सृष्टि उनकी : दृष्टि मेरी

डॉ० मिथिलेश कुमारी मिश्र

वाणी-वाटिका प्रकाशन

पटना - ८०० ००४

प्रकाशक : वाणी वाटिका प्रकाशन
सैदपुर, पटना-4

प्रथम संस्करण—1997

मूल्य : 90/- सजिल्द
65/- अजिल्द

मुद्रक :
बिहार सेवक प्रेस
महेन्द्रू, पटना 800006

दो शब्द

'सृष्टि उनकी दृष्टि मेरी' शीर्षक से ही स्पष्ट है कि विभिन्न साहित्यकारों की कृतियों पर समय-समय पर जो कुछ लिखा गया वही इसमें संकलित है। इस पुस्तक में न तो किन्हीं समीक्षा लक्षणों की विवेचना है और न ही निर्धारण। ये तो प्राप्त पुस्तकों पर यदा-कदा लिख दिये गये विचार हैं।

एक बात और आवश्यक है, वह है—कि इस पुस्तक में कोई क्रमबद्धता नहीं है। न तो यह विधा विशेष की पुस्तकों पर है न कालविशेष की। यों ही जो पुस्तक अध्ययन के क्रम में आयी उस पर जो भी लिखा, वह प्रस्तुत है। एक लाभ पाठकों को अवश्य होगा कि एक साथ कई पुस्तकों की सामान्य जानकारी हो सकेगी। ये विचार कैसे बन पड़े हैं इसकी परीक्षा तो अध्येता ही कर सकेंगे।

यदि किन्हीं को किञ्चित् लाभ हो सका तो अपना श्रम सार्थक समझूँगी।

मिथिलेश कुमारी मिश्र

हिन्दी दिवस

१४ सितम्बर, १९९७

विषयानुक्रम

कालिदास

"कालिदास" साहित्य मनीषी आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री का सद्यः प्रकाशित उपन्यास है। साहित्य शास्त्रीय दृष्टि से यद्यपि इसे उपन्यास कहा जायेगा किन्तु इसमें दार्शनिक एवं ऐतिहासिक तथ्यों का जिस ढंग से विवेचन-विश्लेषण हुआ है उससे ऐसा लगता है कि यह भारतीय दर्शन एवं संस्कृति का कथात्मक व्याख्यान है। कथा द्वन्द्वों के सहारे ज्ञानराशि का विकीर्णन इसकी प्रतिबद्धता मालूम होती है। इससे कथा-प्रवाह में व्यवधान के आक्षेप को पूर्णतः नकारा नहीं जा सकता पर इतना साधिकार कहा जा सकता है कि विद्वान कथाकार ने अपने कथ्यों की पतंग को कथा की डोर से कटकर विलग नहीं होने दिया है। कथ्य और कथा का ऐसा सगम शायद ही अन्यत्र सुलभ हो।

'कालिदास" वस्तुतः एक कालजयी कृति है। सदा एक रूप में स्वीकार किए जाने वाले मूल्य और साहित्य में उसकी अभिव्यक्ति-कालजयी की पहचान है। देश एवं काल के मूल्यों, परम्पराओं और मान्यताओं से ऊपर उठकर जो सदैव अपनी महत्ता अक्षुण्ण रखने वाली कृति है, वही कालजयी कृति कही जा सकती है। कालजयी कृति में सत्यं, शिवम् और सुन्दरम् का साम्योचित समन्वय अनिवार्य है। जो शाश्वत है वही सत्य है और शाश्वत काल की सीमा से निर्मुक्त रहता है। शाश्वतता देश, काल, वस्तु से सदा अप्रभावित रहती है अर्थात् वह स्थायी जीवन-मूल्यों की संवाहिका होती है। इसलिए देश के एवं काल के मूल्यों, परम्पराओं और प्रचलित मान्यताओं से ऊपर उठकर सदैव अपनी महत्ता बनाए रखने वाली कृति ही कालजयी कहलाने की अर्हता प्राप्त करती है। किसी प्रतिबद्ध विचार-धारा से सम्बद्ध कृति इसी कारण जल्दी ही लुप्त हो जाती है।

"शिव और सुन्दर की आधारभूमि भी सत्य ही है। यह सत्य वह शाश्वत व दृढ़ मूल्य है, जो मानव जीवन ही क्या समस्त प्रकृति का आधार है।" इसलिए ही सामयिक कृति समय के साथ ही विदा ले लेती है।

शिवम् लोक कल्याण का उद्घोषक है। किन्तु "शिवम्" को मात्र उपदेष्टा की भाँति परम्परावादी और नीरस नहीं होना है। उसे मानव की सहज वृत्तियो के चित्रण के साथ उनका उदात्तीकरण भी करना है। सत्य में जहाँ सांस्कृतिक और सामाजिक चेतना का स्वर मिलता है वहीं शिवम् का सुर निकलता है। "शिवम्" भी तभी दर्शनीय एवं ग्राह्य होगा जब 'सुन्दर" का वह सहयोग ले अर्थात् सरसता का साथ कभी न छोड़े। जिस कृति में सरसता न होगी वह कभी सुन्दर और आकर्षक हो ही नहीं सकती।

समासतः यही कहा जा सकता है कि कालजयी कृति के लिए सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् का समवेत सहयोग अपेक्षित है। वाल्मीकीय रामायण, रामचरित मानस, सूर सागर, कामायनी आदि इसी कारण कालजयी हुई है।

"कालिदास" कालजयी कृति की इन सभी विशिष्टताओं से सम्पूरित एक जीवन चरित्रात्मक ऐतिहासिक उपन्यास है। ऐतिहासिक पात्रों पर आधृत उपन्यास का परायण वस्तुतः क्षुरस्य धारा निशित्या दुरत्या सदृश दुस्साध्य कार्य है। कथाकार को ऐतिहासिक तथ्यों में अन्तर्निहित सत्य को "शिवम्" और "सुन्दरम्" की रौशनी में इस प्रकार प्रद्योतित करना पडता है कि ये एक रूप होकर इतिहास के वातायन से तत्कालीन समाज और संस्कृति को अपेक्षित दिशा प्रदान कर सकें। कथाकार को न इतिहास से लड़ने-झगड़ने की अनुमति है और न उसे युगीन संस्कृति और समाज पर इतिहास को लादना है। इतिहास की गलियों में यदि युग को अपने को सुसमृद्ध और श्री सम्पन्न करने का मसला मिल जाता है तो वह उसे अंगीकृत कर नए मार्ग का रेखांकन करने लगता है। "कालिदास" ऐसी ही ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर रचा गया एक महार्घ अवदान है।

उपन्यास में कालिदास के प्रारंभिक जीवन से विवाह पर्यन्त तक की कथा को उपन्यासकार ने उपन्यस्त कर अनेक प्रचलित भ्रामक एवं अविश्वसनीय अवधारणाओं को तर्क सम्मत आधार दिया है। सर्वत्र ऐतिहासिक तथ्य की रक्षा और इतिहास के क्रोड में सिमटी एवं प्रसुप्त संस्कृति एवं सामाजिक संभूतियों को स्फूर्त और मूर्तिमान करने का प्रशस्य प्रयास हुआ है। किसी भी तथ्य या घटना को अप्राकृत नहीं किया गया है, हाँ, विश्वसनीयता को चुनौती देने वाली घटनाओं एवं मान्यताओं को प्रमाणपुष्ट रूप देने के लिए कल्पनाश्रित किन्तु तर्कसंभूत आधारों की खोज की गई है। इस संदर्भ में कालिदास और विद्योत्तमा के विवाह-प्रसंग का उल्लेख किया जा सकता है। गवेषी कथाकार ने कालिदास के मूर्खता-प्रदर्शन-प्रसंग और विद्योत्तमा की विद्वता तथा अहंकार-वृत्ति से प्रतिक्षुब्ध

पडितों के किसी मूर्ख से विवाह करा देने के दुरभि संधि-प्रसंग को खारिज करते हुए दोनों के पारस्परिक सौन्दर्यकर्षण और ज्ञानावर्षण को ही विवाह-सूत्र में बँधने का विश्वास सम्भव आधार बनाया है। विद्वान कथाकार को यह स्वीकार्य नहीं कि विद्योत्तमा सरीखी ज्ञानवती क्षुब्ध पंडितों के अतिसामान्य छल का ग्रास बन जाए। कथाकार की दृष्टि में इतिहास-पटल पर प्रक्षेपित यह शंकास्पद प्रसंग प्रबुद्ध पाठकों सुधी समीक्षकों को सदा से खटकता रहा है। रूपाकर्षण और ज्ञानाकर्षण की डोर मे बंधी विद्योत्तमा और विद्योतमा के रूप जाल और ज्ञानाकर्षण से प्रभावित कालिदास में प्रेमभाव का सहज स्फुरण दिखाकर कथाकार ने एक चिन्त्य स्थिति को स्वाभाविकता और विश्वसनीयता का ठोस आधार दे दिया है। विद्योत्तमा कालिदास के सुगठित वदन, सौम्य मुखाकृति और विद्वता की आग से दमकते व्यक्तित्व को देखकर मंत्र मुग्ध हो जाती है—"विद्योत्तमा की दृष्टि ऊपर उठ न रही थी और उसकी लटें पलकों तक छिटक आई थी······ कामना का वह पुष्ट और सुनहला बीज, जो अंकुरने-अँखुआने के दिन पार कर चुका था, अचानक टूसिया गया था। अधखुले होठ प्राणों के रन्ध्र से झांकती हुई व्याकुलता को ढक-दब कर रखने के प्रयास में अभिव्यक्ति खो बैठे थे जो हृदय—जैसी बहुमूल्य वस्तु के अनायास खो जाने से उत्पन्न हुई थी। (पृ० 76)

इसी प्रकार कालिदास विद्योत्तमा के नैसर्गिक सौन्दर्य, ज्ञानगुरुता, वाक्चातुर्य, व्यवहार पटुता और उक्ति वैचित्र्य से प्रभावित हो उसके आकर्षण-पाश में बध जाते हैं। कथाकार के शब्दों में कालिदास का प्रत्याकर्षण देखें······" और उस भीड़ में अकेले कालिदास थे जिनके रूप-रंग के निखार पर सबकी आँखें अटकी हुई थी, रूपसियों की तो सांसें भी रुक गई थीं। कोई-कोई अधखुली आँखें भर रही थी, कुछ आँखें फाड़े, आपा खोये, चित्रलिखित-सी जहाँ थी वहीं खड़ी रह गई थीं······ यह तो संयम की आग में सौनराया हुआ रूप है। व्यायाम ने इस बनावट को पुष्ट रेखाएँ दी हैं, ब्रह्म वर्चस ने शीतल तेजस्विता। (पृ० 93)।

विक्रमादित्य और अग्नि मित्र को इतिहास के तराजू पर रखकर ही कथाकार ने अपने कथा-सूत्र को विस्तारित किया है। कथाकार ने न इतिहास से छल किया है और न कथा-काया को विकृत होने दिया है तथ्य और कल्पना (फैक्ट्स और फिक्शन) दोनों समानान्तर रूप में प्रणोदित हैं। कोई किसी का मार्ग न अवरुद्ध करता है और न निरुद्ध। अग्निमित्र और मालविका का सुखद दाम्पत्य इतिहास सम्भव है तो अग्निमित्र और मालविका द्वारा विद्योत्तमा तथा कालिदास को प्रणय सूत्र में बंधने का प्रोत्साहन और प्रयास शुद्ध कल्पनाजनित कथाकार की मौलिक

उद्भावना है किन्तु दोनों पक्षों (ऐतिहासिक तथ्यों और कल्पनाओं) का अन्तर्पाशन इस ढंग से किया गया है कि वे कथा के ओज और चमत्कार को द्विगुणित कर देते हैं इतिहास की काया को कल्पना की अगरु सुगंधित कर देती है। कल्पना इतिहास की यश-सुरभि को प्रदूषित नहीं करती अपितु उसे ऑक्सीजन दे और ऊर्जस्वित कर देती है। इतिहास को अपने तेज से निष्प्रभ करने वाली कल्पना की कौतुक-क्रीडा "कालिदास" में अनेक विध उपदर्शित है। उपन्यास का आद्यतन अध्ययनमनन इस अशेष प्रातिभ कृति की गुणवत्ता को सहेजने और उकेरने के लिए आवश्यक है।

इतिहास तथ्यों का गट्ठर है और साहित्य तथ्यों की सुललित व्याख्या। व्याख्या को सहज बोधगम्य बनाने के लिए व्याख्याकार (साहित्य स्रष्टा) को अन्य स्थलों, प्रसंगों, क्षेत्रों तथा शास्त्राक्षरों संवाद और समभाव ग्रहण करने की पूरी छूट है। यही छूट साहित्य सर्जक को "जहाँ न पहुँचे रवि वहाँ पहुँचे कवि" मानस्पद से अभिव्यक्ति करती है और वह निर्द्वन्द्व भाव से सर्वत्र विचरने लगता है। इसी क्रम मे वह राजनीति के गलियारे में घूमते हुए पैनी नजर से मुआयना करता है और समाज के सभी दरवाजों पर दस्तक दे सजग और सतर्क रहने की उत्प्रेरणा देता है। समालोचक की भाँति राजनीति को और उपदेष्टा की भाँति समाज को वह अपने कटु-मधु वचनों से सत्पथानुगामी होने की सीख देता है। किन्तु इसकी सीख में तिक्तता की छौंक इसलिए होती है कि श्रोता उसकी तल्खी से आहत हो पूर्ण रूप से उसे हृदयंगम कर लें। "कालिदास" में विद्वान कथाकार का यह प्रहारी एव अध्यारोही स्वरूप कथाकार की बहुकोणीय दृष्टि का व्याख्यात्मक निदर्शन है। ऐसे स्थल तो बहुत है, स्थालीपुलकन्यायवत् मात्र एक-दो उदाहरण इस आवधारणा के प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत हैं—

(क) "धर्मो नित्यः सुख-दुखे त्वनित्ये कि सुख-दुख अटाऊ-बटाऊ है। आते-जाते रहते हैं। टिकाऊ है केवल धर्म। उसे किसी भय या आलस्य के वशीभूत होकर या फिर जान बचाने के लिए कदापि नहीं छोडना चाहिए। यह धर्म ही है जो मनुष्य को पशुत्व से बचाता और देवत्व के निकट पहुँचाता है।" (पृ० 143)

(ख) "मैं कवि हूँ, किसी देश, किसी काल या किसी जाति की पीड़ा मेरे ही मुँह से तो बोलेगी······पथराई हुई सभ्यता, जंग लगी संस्कृति, धुँधलाई हुई विचारधारा, और रूढ़ि-जर्जर मानसिकता से विद्रोह

कर अपनी पहचान बनाना ही मेरा उद्देश्य नहीं है, जातीय जीवन में नए उत्कर्ष के लिए नया उत्साह, नई दृष्टि और नया पथ भी निर्मित करना होगा। उत्साह ही सुख-सम्पत्ति का मूल है, उत्साह प्रवृत्त न करे तो सारे मनोरथ जहाँ के तहाँ धरे रह जाएँ।" (पृ० 85)

(ग) "आम तौर पर मानव-प्रकृति में एक खास खोट पायी जाती है। जाने क्यों, लोगों की अभिरुचि सब में कोई-न-कोई ऐब देखना चाहती है। देवी-देवता, ऋषि-महर्षि, ज्ञानी-विज्ञानी, कवि-कलाकार, राजे-महराजे, यहाँ तक कि सामान्य जनों में भी वह कोई न कोई दोष ढूँढ़ निकालकर बहुत अधिक प्रसन्न होती है।"

(पृ० 299)

(घ) "महाभारत में मनुष्य के कलुषित; चरित्र का कम चित्रण नहीं किया गया है, पर कुरुक्षेत्र का पाप पक्ष चाहे जितना भी प्रबल रहा हो, धर्म के आगे उसे मुँह की ही खानी पड़ी है।"

(पृ० 324)

इसी दौड़ में वह धरती को रौंदता है, आकाश को छूता है और पाताल को भेदता है। राजनीतिक व्यूह को विखंडित करने, सामाजिक कर्दम को प्रक्षालित करने, धार्मिक संकीर्णता को उन्मूलित करने का उसका संकल्प इसी दौड़ की परिवीक्षणात्मक वृत्ति का प्रतिफलन होता है।

उपन्यासकार स्वयं राजनीति से सर्वथा असम्पृक्त एवं अनासक्त रहा है, इसलिए वह आज की राजनीतिक गंदगी से अपनी कृति को मटमैला करने से प्राय: विमुख ही है। फिर भी राजनीतिक भँवर के चक्रवाल से उसका जीवन तो प्रभावित और प्रताड़ित होता ही रहा है। अत: राजनीति इसके लिए उपेक्ष्य होते हुए भी लेखकीय कर्म की अपेक्षानुसार "इतोभ्रष्ट: ततोभ्रष्ट:" की भाँति इतस्तत: चर्चित है। एक बानगी देखें :—

(क) मैं सम्राट को कैसे समझाता कि मिट्टी के चबूतरे पर मटमैले कपड़े पहने हुए लोग कम दु:खी हैं, उन्हें रामायण-महाभारत का रोना-धोना भी आनन्द ही देता है। न देता तो उसे क्यों फिर-फिर सुनते ? सिंहासन पर बैठे हुए ही सुख का स्वांग भर रचते हैं, भीतर-भीतर किसी समकक्ष से डरे रहते हैं। किसी के उत्कर्ष से

(ट) "परस्परता गार्हस्थ्य की पहली सीढ़ी और सहधर्मता अन्तिम है।"
(पृ० 140)

(ठ) संवेदना भी एक प्रकार की उत्तेजना है, उसकी सघनता अपने ही अन्तः स्तर की गहराई से मापी जा सकती है।" (कालिदास 151)

(ड) शान्ति तो समग्रता और परिपूर्णता की शब्दातीत अभिव्यक्ति है। वह विवशता की चुप्पी नहीं है।" (पृ० 169)

समासतः कहा जा सकता है कि आचार्य शास्त्री की यह औपन्यासिक कृति साहित्य-विधा की सभी द्युतियों से आलोकित एवं सम्पूर्ण संभूतियों से अलंकृत है। औपन्यासिक विधा को घिसे-पिटे एवं नपे-तुले साँचे से निकालकर आचार्य शास्त्री ने एक नई तकनीक का इजाद किया है जो भावी कथाकारों के लिए प्रेरणा और पथ-प्रदर्शन का काम करेगी।

□

पीताम्बरा

मीरा के सम्पूर्ण जीवन पर आधृत डॉ० भगवतीशरण मिश्र का सद्यः प्रकाशित उपन्यास "पीताम्बरा" उपन्यासकार के शब्दों में "उपन्यास होते हुए भी एक तरह से मीरा की जीवनी है।" उपन्यास लेखक का यह भी दावा है कि उन्होंने "मीरा के सम्बन्ध में प्रचलित विभिन्न भ्रान्तियों का निवारण कर उसकी कथा को भरसक सही परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है। विद्वान् लेखक ने इस ऐतिहासिक उपन्यास को प्रामाणिकता प्रदान करने के लिए मीरा से सम्बन्धित सभी स्थानों की यात्रा करने के साथ-साथ वहाँ के लोगों से, वहाँ संचालित शोध-संस्थानों से भी सम्पर्क किया। अन्ततः, लेखक की यात्राओं के दौरान मीरा के सम्बन्ध में प्राप्त जानकारी के आधार पर मीरा के जीवन का संक्षिप्त इतिवृत्त लेखक के अनुसार इस प्रकार बनता है। मीरा का जन्म संवत् 1561 (1504 ई०) कुड़की ग्राम मे हुआ था। कुड़की में मीरा का पितृगृह जहाँ उसने जन्म लिया था, आज भी सुरक्षित है। इसके समक्ष एक छोटा-सा कृष्ण-मंदिर भी है जहाँ मीरा के पिता और बालिका मीरा कृष्णोपासना करते थे। लेखक द्वारा सम्पर्क किए जाने पर किसी भी मेडतावासी ने मीरा का जन्म-स्थल मेडता नहीं बताया। मेडता मीरा के पितामह राव दूदा की राजधानी थी। चार-पाँच वर्ष की उम्र में ही कुडकी से रावदूदा के पास मेडता आ गई थी और यहीं उसका विवाह भी हुआ था। मेडता मे रावदूदा का प्राचीन महल आज भी सुरक्षित है। महल के पार्श्व में प्रसिद्ध चतुर्भुज मंदिर अवस्थित था जिसका जीर्णोद्धार हो चुका है किन्तु कहा जाता है कि मंदिर की मूर्ति वही है जिसकी पूजा रावदूदा और मीरा किया करते थे।

"मेडतावासियों को इस बात का गर्व है कि मीरा मेडता में ही पली-बढती थी। यह बात इस मनगढ़न्त किसी को भी झुठलाती है कि मीरा के पद नीची जातियों और आदिवासियों में ही अधिक लोकप्रिय हैं और सम्भ्रान्त लोग अब भी मीरा के प्रदेश में ही उसे सम्मानजनक दृष्टि से नहीं देखते।[1] लेखक को यह देखकर अपार हर्ष हुआ कि "चित्तौड़गढ़ में वह मंदिर आज भी सुरक्षित है जिसे मीरा के

1. पीताम्बरा निवेदन, पृ० 11

(ट) "परस्परता गार्हस्थ्य की पहली सीढ़ी और सहधर्मता अन्तिम है।"
(पृ० 140)

(ठ) संवेदना भी एक प्रकार की उत्तेजना है, उसकी सघनता अपने ही अन्तः स्तर की गहराई से मापी जा सकती है।" (कालिदास 151)

(ड) शान्ति तो समग्रता और परिपूर्णता की शब्दातीत अभिव्यक्ति है। वह विवशता की चुप्पी नहीं है।" (पृ० 169)

समासतः कहा जा सकता है कि आचार्य शास्त्री की यह औपन्यासिक कृति साहित्य-विधा की सभी द्युतियों से आलोकित एवं सम्पूर्ण संभूतियों से अलंकृत है। औपन्यासिक विधा को घिसे-पिटे एवं नपे-तुले साँचे से निकालकर आचार्य शास्त्री ने एक नई तकनीक का इजाद किया है जो भावी कथाकारों के लिए प्रेरणा ओर पथ-प्रदर्शन का काम करेगी।

□

साहित्य की इन अनिवार्य परिसीमाओं के अन्तर्गत प्रतिबद्ध उपन्यासकार ने उपलब्ध ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर मीराबाई के जीवनचरित को इस प्रशस्य औपन्यासिक कृति में किस प्रकार सहेजा और संवारा है। इस निमित्त हमें उपन्यास मे आद्योपान्त अभिवर्णित कथा का सम्बल स्वरूप का विहगावलोकन करना होगा। एक सौ इक्यावन परिच्छेदों एवं 740 पृष्ठों में विस्तारित उपन्यास का प्रारम्भ मीरा के पितामह रावदूदा के मानसिक अन्तर्द्वन्द से होता है। साधु स्वभाव राव दूदा एक वीर क्षत्रिय होते हुए भी युद्धाकांक्षी नही हैं। परिस्थितिवशात् यवनो से उन्हे युद्ध करने को बाध्य होना पड़ा किन्तु विजयश्री प्राप्त कर लेने के बाद भी उन्हे चैन नहीं। उनके चार पुत्रों में केवल दो ही पुत्र वीरम सिंह और रतन सिंह जीवित थे। वीरम अग्रज सिंह एक बहादुर योद्धा थे और अनुज रतन सिंह में वीरोचित कार्यों के साथ-साथ पूजा-अर्चना की भी प्रवृत्ति थी।

रोग शय्या पर पड़े राव दादू को जब ऐसा लगा कि उनके जीवन की अंतिम घड़ी पास आ पहुंची है तो उन्होंने दोनों भाइयों की उपस्थिति में छोटे पुत्र रतन सिंह के भरण-पोषण के लिए कुडकी, बाजोली आदि बारह ग्राम उन्हें दे दिये। बड़े भाई होने के नाते वीरम सिंह तो मेडता के उत्तराधिकारी थे ही। साथ ही राव दूदा ने रतन सिंह से वचन ले लिया कि जो भी उनकी पहली संतान होगी उसके अन्दर वे कृष्ण भक्ति बीज का वपन बाल्यकाल में ही कर देंगे चाहे वह संतान बालक हो या बालिका। रतन सिंह की पुत्री कुँवरी बाई ने एक कन्या रत्न को जन्म दिया। रतन सिंह और उनकी पत्नी कुँवरी बाई पर कृष्ण-भक्ति का पूरा रंग चढ़ चुका था। कुँवरी बाई का शयनकक्ष भी भगवान कृष्ण के चित्रों से सदा सुसज्जित रहता था। रतन सिंह तो अहर्निश मुरलीधर की पूजा-अर्चना में लगे रहते।

नवजात शिशु का नामकरण पंडित राम दास के निर्देशन में स्वयं राव दादू ने किया और नाम रखा मीरा। इस अनिंद्य सुन्दरी बालिका को अपनी प्रतिश्रुति तथा राव दादू की इच्छानुसार रतन सिंह ने मन-ही-मन कृष्ण को अर्पित कर दिया। षष्ठी-पूजा, अन्न-प्राशन आदि संस्कारों के सम्पादन क्रम में भी बालिका को कृष्णोन्मुख करने के लिए सभी संभव प्रयास किए गए। खिलौने के बदले उसे श्यामसुन्दर की मूर्तियाँ खेलने के लिए दी गई। उस लाडली के लिए माँ ने जो कपड़े के गुड्डे और गुड्डियाँ बनायी वे साधारण न होकर राधाकृष्ण की ही थी। जैसे-जैसे मीरा बढ़ती गई वैसे उसमें कृष्ण के प्रति अनुराग भी बढ़ता गया। माँ-पिता के साथ वह भी मुरलीधर के मंदिर में जाती और ध्यानस्थ होकर श्यामसुन्दर

के विभिन्न विग्रहों को निहारती। माँ के अतिरिक्त मीरा की देखभाल की जिम्मेवारी अर्पणा की थी जो कुँवरी बाई की सेविका होने के साथ कृष्ण भक्ति में भी लसी-पगी थी।

ग्यारह वर्ष की उम्र तक तो मीरा गिरिधारी के प्रेम में इतना अर्न्तलीन हो गई कि संसार में कृष्ण-कन्हैया के सिवाय उसे कुछ दीखता ही नहीं था। महल की बगल से गुजरती एक बरात के दूल्हे को देखकर मीरा ने अपनी माँ से पूछा था कि उसका दूल्हा कौन है तो उसकी माँ ने मुरली मनोहर की मूर्ति को दिखाते हुए कहा था कि वही तुम्हारा दूल्हा है। उसी दिन से मीरा ने मुरली मनोहर को ही अपना दूल्हा मान लिया था।

माँ की मृत्यु के बाद मीरा मेडता आ गई। राव दादू के साथ वह चतुर्भुज भगवान की पूजा में हमेशा लगी रहती। चार-पाँच वर्षों की उम्र में वह स्वरचित पदों से श्यामसुन्दर की आराधना करने लगी।

वीरम सिंह के पुत्र जयमल और मीरा को पढाने के लिए पंडित रामदास को नियुक्त किया गया। जब पंडित रामदास ने "श्रीराम से अक्षराम्भ कराना चाहा तो मीरा ने स्पष्ट रूप से कहा कि उसका अक्षरारम्भ "श्रीकृष्ण" नाम से करायें। मीरा की कुशाग्र बुद्धि ने अल्पकाल में ही सब कुछ आत्मसात् कर लिया।

मीरा की कृष्ण-भक्ति और उसके द्वारा राजस्थानी में रचित पदों के माधुर्य का यश चतुर्दिक फैल गया। मीरा के भजन सुननेवाले श्रोताओं तथा दर्शनार्थियो की भीड़ अब अनियंत्रित होने लगी। चतुर्भुज मंदिर में आरती के समय जब मीरा करताल ले खड़ी होकर नृत्य आरम्भ करती तो उपस्थित जनसमूह भी उसके सुर में सुर मिलाकर नाचने लगता। पूरी की पूरी मेडता मीरा के प्रभाव में कृष्ण-प्रेम मे पागल हो गया था। राव दूदा ने संरक्षण में मीरा की प्रतिमा पूरी तरह परवान चढने लगी। जैसे-जैसे मीरा के सौन्दर्य और कला की चर्चा हवा पर चढ़कर चारो दिशाओं को सुरभित करने लगी वैसे-वैसे विरोध के स्वर भी मुखर होने लगे। यह विरोध तब और बढ़ गया जब भगवान चतुर्भुज के काप-कपाट साधु सन्यासियो के लिए खुल गए। महल में साधुओं का झुंड पहुँचने लगा। मीरा सबका स्वागत करती और स्वरचित पदों को गा-गाकर एवं नृत्य कर उन्हें रिझाती।

कृष्ण-भक्ति के रंग में रंगी मीरा के पास आनेवाले साधु-संन्यासियाँ के प्रवाह ने मेला का रूप धारण कर लिया। मीरा 15 वर्ष की हो चुकी थी। उसके रूप लावण्य और मधुर स्वर से प्रभावित लोगों की इतनी भीड़ जमा होने लगी कि

पीताम्बरा

मीरा के सम्पूर्ण जीवन पर आधृत डॉ० भगवतीशरण मिश्र का सद्यः प्रकाशित उपन्यास "पीताम्बरा" उपन्यासकार के शब्दों में "उपन्यास होते हुए भी एक तरह से मीरा की जीवनी है।" उपन्यास लेखक का यह भी दावा है कि उन्होंने "मीरा के सम्बन्ध में प्रचलित विभिन्न भ्रान्तियों का निवारण कर उसकी कथा को भरसक सही परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है। विद्वान् लेखक ने इस ऐतिहासिक उपन्यास को प्रामाणिकता प्रदान करने के लिए मीरा से सम्बन्धित सभी स्थानों की यात्रा करने के साथ-साथ वहाँ के लोगों से, वहाँ संचालित शोध-संस्थानों से भी सम्पर्क किया। अन्ततः, लेखक की यात्राओं के दौरान मीरा के सम्बन्ध में प्राप्त जानकारी के आधार पर मीरा के जीवन का संक्षिप्त इतिवृत्त लेखक के अनुसार इस प्रकार बनता है। मीरा का जन्म संवत् 1561 (1504 ई०) कुड़की ग्राम में हुआ था। कुड़की में मीरा का पितृगृह जहाँ उसने जन्म लिया था, आज भी सुरक्षित है। इसके समक्ष एक छोटा-सा कृष्ण-मंदिर भी है जहाँ मीरा के पिता और बालिका मीरा कृष्णोपासना करते थे। लेखक द्वारा सम्पर्क किए जाने पर किसी भी मेडतावासी ने मीरा का जन्म-स्थल मेडता नहीं बताया। मेडता मीरा के पितामह राव दूदा की राजधानी थी। चार-पाँच वर्ष की उम्र में ही कुडकी से रावदूदा के पास मेडता आ गई थी और यहीं उसका विवाह भी हुआ था। मेडता मे रावदूदा का प्राचीन महल आज भी सुरक्षित है। महल के पार्श्व में प्रसिद्ध चतुर्भुज मंदिर अवस्थित था जिसका जीर्णोद्धार हो चुका है किन्तु कहा जाता है कि मंदिर की मूर्ति वही है जिसकी पूजा रावदूदा और मीरा किया करते थे।

"मेडतावासियों को इस बात का गर्व है कि मीरा मेडता में ही पली-बढ़ती थी। यह बात इस मनगढ़न्त किसी को भी झुठलाती है कि मीरा के पद नीची जातियों और आदिवासियों में ही अधिक लोकप्रिय हैं और सम्भ्रान्त लोग अब भी मीरा के प्रदेश में ही उसे सम्मानजनक दृष्टि से नहीं देखते।[1] लेखक को यह देखकर अपार हर्ष हुआ कि "चित्तौड़गढ़ में वह मंदिर आज भी सुरक्षित है जिसे मीरा के

1. पीताम्बरा निवेदन, पृ० 11

श्वसुर राणा सांगा के कहने पर भोजराज ने मीरा के लिए बनवाया था।" लेखक जीव गोस्वामी से भी वृन्दावन में मीरा के मिलने की बात स्वीकार करते हैं। रैदास को मीरा का गुरु मानने में लेखक को थोड़ी आपत्ति है। वे मानते हैं कि "यह बात पृथक् है कि मीरा रैदास के कुछ सिद्धान्तों से सहमत हो, अतः उसने कुछ पदों में रैदास को सैद्धांतिक गुरु के रूप में स्वीकारा हो।"[1] ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर लेखक लोगों द्वारा प्रचारित अकबर और मीरा की भेंट की बात भी नहीं स्वीकारते हैं। लेखक कुड़की अवस्थित मीरा-मंदिर में उत्कीर्ण विवाह संवत् 1573 (1516 ई०) और मृत्यु संवत् 1607 (1505 ई०) को भी ठीक मानते हैं क्योंकि मेड़ता में स्थापित शोध-संस्थान में उपलब्ध साक्ष्य से भी इसकी सम्पुष्टि होती है।

भक्तों एवं संतों द्वारा रचित साहित्य और राजस्थान के प्राचीन इतिहास ग्रंथों में उपलब्ध मीरा के जीवन वृत्तान्त के संबंधित तथ्य इतने परस्पर विरोधी हैं कि उनके आधार पर किसी निर्विवाद निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है। उपन्यास के अवलोकन से ऐसा प्रतिभाषित होता है कि लेखक मुंशी देवी प्रसाद प्रणीत "मीराबाई का जीवन और काव्य" को ही मीराबाई के जीवन-वृत्तान्त का आधार स्रोत माना है। यह दीगर बात है कि राजस्थान मे प्रचलित जनश्रुतियों से भी उपन्यासकार अप्रभावित नही रह पाया है।"[2]

साहित्य तो ऐतिहासिक तथ्यों का गट्ठर मात्र नहीं है। ऐतिहासिक तथ्यों एवं घटनाओं को भी साहित्य में इस प्रकार प्रक्षेपित करना पड़ता है कि वह रसास्वादन में बाधक नहीं बने। वाक्यं रसात्मकं काव्यम्—में अन्तर्लिप्त धारा को साहित्य में उज्जीवित रखना पड़ता है। कथा साहित्य विशेषतः ऐतिहासिक उपन्यास में तो लेखक को अपेक्षाकृत अधिक सजग और सतर्क रहना पड़ता है। फैक्ट्स (तथ्य) और फिक्शन (कल्पना) का सूत्र मणिगणाइव संयोग के लिए उसे तथ्य की संरक्षा के साथ कल्पना को भी तथ्य की दिशा में अनुकूलित करना पड़ता है। ऐसे प्रयास में उपन्यासकार को स्वाभाविकता की रक्षा के लिए विश्वसनीयता प्राप्त करने हेतु यदा-कदा अपनी ऊर्जास्वित भावनाओं का भी बलिदान करना पड़ता है। ऐतिहासिक भाव धारा में युगीन प्रवाह को छौंक डालने का कार्य तो और गुरुतर हो जाता है। युग की वाणी यदि प्रभावित ढंग से निनादित नहीं हुई तो उसका "कवि-कर्म" ही निष्फल हो जाता है।

---

1. वही, पृ० 11
2. वही पृ० 12

दृष्टि में पत्नी के रूप में स्वीकार किया था किन्तु वह वस्तुतः मुरली मनोहर की ही अंकशायिनी होगी, भोज सदृश लौकिक पुरुष की नहीं, इसलिए ही भोज के विवाह के अवसर पर अपना हाथ कंपाकर सिन्दूर उसकी मांग में नहीं उसके कपोल भाग पर रगड़ दिया था। भोज के इस अप्रत्याशित व्यवहार और उदात्त आचरण से मीरा को वस्तुतः भोज में ही अपने आराध्य श्रीकृष्ण का दर्शन होने लगा। उसे ऐसा लगा कि कृष्ण का प्रस्तर-विग्रह ही भोज का रूप धारण कर उसके सम्मुख उपस्थित हुआ है। इधर मीरा महल में कृष्णराधना, अर्चना में लगी और उधर भोज राणा सागा की आज्ञा लेकर मीरा मंदिर-निर्माण में लग गए। केवल रात में कुछ क्षणों का मिलन उन्हें दिव्य-आनन्द की रसानुभूति से परिप्लावित कर देता। किन्तु छलिया कृष्ण से वह भी नहीं देखा गया, अपने और मीरा के बीच उसे किसी तीसरी सत्ता की उपस्थिति सह्य नहीं हुई और एक दिन मीरा पर विपदा का पहाड़ टूट पड़ा भोज मीरा से यह वचन लेकर कि वह उनकी मृत्यु के बाद सती नहीं होगी और कृष्ण को ही अपना पति मानकर जीवन पर्यन्त सेवारत रहेगी, दिवंगत हो गए। मीरा रोती, बिलखती, रही, कृष्ण को कोसती रही कि उसने भोज के रूप में प्राप्त उसके लौकिक अवलम्ब को लूटकर उसका सर्वस्व लूट लिया।

राणा भोज की मृत्यु के बाद परम्परानुसार धनबाई की कोख से उत्पन्न राणा सांगा के द्वितीय पुत्र रत्न सिंह को युवराज या राणा सांगा का उत्तराधिकारी होना था किन्तु पट्टमहिषी कर्मवती युवराज पद पर अपने पुत्र विक्रमाजीत को प्रतिष्ठित करना चाहती थी। इस निमित्त दरबार में षड्यंत्र शुरू हो गया। इस षड्यंत्र के प्रमुख पात्र थे—पटमहिषी कर्मवती, उनके भाई सूरजमल और उनके पुत्र विक्रमाजीत तथा उदय सिंह। विक्रमाजीत के दुर्व्यसन से सभी परिचित थे। वह मद्यपी और विलासी था। दूसरी ओर धनबाई का पुत्र रत्न सिंह अपने सदाचरण एवं सद्व्यवहार के लिए प्रसिद्ध था। विक्रमाजीत मीरा को अपनी वासना का शिकार बनाना चाहता था और रत्न सिंह मीरा को पूजता था। लगभग ऐसी ही हालत कर्मवती और धनबाई की भी थी। मीरा कर्मवती को फूटी आँखों नहीं सुहाती थी और धनबाई का पूर्ण स्नेह और ममत्व मीरा को प्राप्त था।

कर्मवती एवं उसके सहायक राणा सांगा के साथ-साथ मीरा को भी अपने मार्ग का कांटा समझते थे। इसी बीच राणा सांगा को मुगल सरदार बाबर के राजपूताना की ओर कूच करने की सूचना मिली। राणा सांगा राजपूताना की भूमि पर किसी आक्रमक का गंदा पैर नहीं पड़ने देना चाहते थे किन्तु मुगलों की विशाल वाहिनी का राणा सांगा की सेना अकेले मुकाबला नहीं कर सकती थी इसलिए

बिना साहस के कुछ नहीं होगा। उन्हे साहस से काम लेना होगा।"[1] मीराबाई नही चाहती कि नारी का स्वरूप शोषण और पुरुष की निरंकुशता के बीच ही परिभाषित होकर रह जाए।

नारी पुरुष प्रधान समाज में सदा प्रताड़ित और उपेक्षित होती रहे, यही नारी की नियति नहीं है। "नारी साक्षात् शक्ति है।" सृष्टि उसके बिना अपूर्ण और असम्भव है। चाहे भक्ति का क्षेत्र हो या समाजोद्धार का, चाहे मंदिर प्रांगण हो या समरांगण, सर्वत्र नारी पुरुष से आगे बढ़ने की सम्भावना से युक्त है। वह किसी क्षेत्र में उससे न्यून नहीं, उसकी अनुगामिनी नहीं। वह अपनी मार्ग-निर्देशिका स्वयं हैं, अपनी पथ-प्रदर्शिका, मीरा नारी वर्ग को उपदृष्ट करती हुई कहती है—"उठो, जागो और बता दो पुरुष को कि असूर्यपश्यानरियों का काल समाप्त हो गया। अब वह सहभागिनी है जीवन के हर क्षेत्र में, धर्म में, कर्म में, सब में।"

विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में, संगठनों, मतों का लक्ष्य एक ही है; मानवता का कल्याण और परमपद की प्राप्ति। इसलिए इनमें धार्मिक बिन्दुओं पर कोई मतभेद नहीं होना चाहिए। राष्ट्रहित में सर्वधर्म समन्वय की गाँधीवादी प्रवृत्ति की छौंक भी उपन्यास में यत्र-तत्र दी गई है। एक दो उदाहरण ही सक्षम है। भोज ने राणा सांगा को धर्म का स्वरूप समझाते जो कुछ कहा उसमें धर्म की अभिन्नता और व्यापकता का दर्शन होता है—"धर्म किसी पर थोपा नही जा सकता। सबको अपने-अपने विश्वास के अनुकूल धर्माचरण की स्वतन्त्रता होनी चाहिए।"[3] सभी सम्प्रदाय एवं संघ के लोग अब अपने-अपने मत या सिद्धांत की श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिए संघर्ष पर तुले हुए थे उस समय सभी सम्प्रदायों एवं पंथों की सम्मिलित धर्मसभा में "अहिंसा परमोधर्मः" का बीज वपितकर मीरा ने सर्वधर्म समन्वय का नारा इस प्रकार दिया—"सत्य एक है, टुकड़ों में बाँटने से बँट नहीं सकता। सारे सम्प्रदाय विभिन्न धर्माचार्यों की मस्तिष्क की उपज हैं पर उनका लक्ष्य कभी मानव को दिग्भ्रमित करना नहीं था और न अन्य सम्प्रदायों को हेय सिद्ध कर अपने धर्म को सर्वश्रेष्ठ बतलाना। वे एक ही लक्ष्यपरक तत्त्व तक पहुँचने के विभिन्न मार्गों का निरुपण मात्र कर रहे थे। जो शिव है वही राम है चाहे वह रामानुचार्य का हो, रामानन्द का हो या गोस्वामी तुलसीदास का और जो राम वही कृष्ण है। और यही कृष्ण और राम बुद्ध भी है और महावीर भी केवल दृष्टिदोष है जिसका आखेट बने हम आपस में लड़ते-कटते हैं। ...... यह समय आपसी वाद-विवाद और विद्वेष का नहीं है। जिसकी जिस धर्म, जिस

---

1. पीताम्बरा, पृष्ट 165 2. वही पृष्ठ 615 3. पीताम्बरा, पृ० 198

सम्प्रदाय में रुचि हो वह उसी को पूर्णतया समर्पित हो अपनी साधना करें पर दूसरों के साधना पथ को निकृष्ट सिद्ध करने का प्रयास इस पुनीत भूमि को पारस्परिक द्वेष और कलह की अग्नि को नहीं समर्पित करे।"[3]

राष्ट्र को संगठित हो अपनी रक्षा के लिए सदा सन्नद्ध रहना चाहिए, राष्ट्र भक्ति के इस बीजमंत्र को भी उपन्यासकार ने उजागर किया है। मीरा संगठन का महत्त्व समझाती हुई कहती है—संगठन में शक्ति है। आप बिखरे हुए हैं नाना धर्मों और जातियों के नाम पर। इसीलिए आपका शोषण होता है। मैं चाहती हूं आप कृष्ण के नाम पर संगठित हों, आपकी आज से एक ही जाति है—श्रीकृष्ण भक्ति : आपका एक ही धर्म है—"श्रीकृष्ण प्रेम······आप सभी एक हैं।"[1] आपसी प्रेम ही राष्ट्रीय एकता का स्वर है इस रहस्य का उद्‌घाटन करती हुई मीरा मानव मात्र को प्रेम का पाठ पढ़ाती है—प्रेम के बिना आज का सम्पूर्ण सामाजिक जीवन विशृंखल हो गया है और तो और भाई-भाई में प्रेम नही रहा, पिता-पुत्र में नही रहा। समाज और राष्ट्र के प्रति प्रेम हमारे हृदय से जाता रहा। एक प्रेम की रज्जु ही सबको बांधती है। (इसलिए) आज आवश्यकता है प्रेम की।"····· पूरा देश टुकड़ो में बंट चुका है। उसे अब और नहीं बंटने दिया जा सकता।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मरु-मंदाकिनी मीरा के जीवन पर आधृत उपन्यास "पीताम्बरा" मीरा के इतिवृत्त का केवल प्रामाणिक वृत्तान्त ही नहीं प्रस्तुत करता अपितु मीरा की चरितकथा को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में प्रासंगिक भी बना देता है। मीरा के सम्बन्ध में प्रचलित भ्रान्तियों का निवारण कर उसकी कथा को सही परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने का कथाकार का दावा कहीं तक स्वीकार्य है, इसका निर्णय तो विद्वत्-मंडली ही कर सकेगी। मैंने तो उपन्यास और उपन्यासकार को आपके समक्ष रखने का प्रयास मात्र किया है।

●

1. पीताम्बरा, पृ० 615
2 वही, पृ० 334
3. वही, पृ० 505-505
1. वही, पृ० 204
2. वही, पृ 220

मूकमाटी

"मूकमाटी" आचार्य विद्यासागर की चिन्तन-धारा एवं वैचारिक भावभूमि का काव्यात्मक स्फोट है। इसमें आचार्य जी ने भारतीय दर्शन के तत्त्वांशों का निचय सामासिक शैली मे प्रस्तुत किया है। दर्शन तथा धर्म के निगूढ़ तत्त्वों को काव्य के साँचे में ढालने की प्रक्रिया अत्यंत दुरुह होती है। इसीलिए औपनिषदिक साहित्य मात्र प्राज्ञ-प्रौढ़ पुरुषों तक ही सीमित रह गया है। दर्शन तथा धर्म का मूलाधार है—कठोर सिद्धांत एवं दृढ़ व्रत। इन दोनों आलम्बों पर काव्य का औदार्य और सौष्ठव खड़ा करना कितना दुष्कर हो सकता है इसे काव्य स्रष्टा और साहित्य मर्मज्ञ ही समझ सकते हैं। स्वामी जी के सामने जो आदर्श और तथ्यांश थे उन्हें मात्र चिन्तन और अध्यात्म के चक्षु से ही देखा और परखा जा सकता था। आनन्द और सौन्दर्य काव्य के चरमोद्देश्य हैं। इनमें लौकिकता की संप्रवाही धारा अन्तर्लिप्त है। समीक्षक मधुमती "भूमिका" और "सामाधि" को भले ही समतुल्य मान लें किन्तु रसास्वादन में इनके पार्थक्य का बोध उन्हें भी है। योगी की "समाधि" दर्शन है और साहित्य की मधुमती भूमिका काव्य। मेरे इस विचार से कुछ विचारक सहमत नहीं भी हो सकते हैं किन्तु मेरा यह निजी प्रत्यय और विश्वास है। मैं मानती हूँ कि कुछ ऐसे चिन्तक एवं विचारक भी होते हैं जो काव्य को परम्परा और पूर्व निर्धारित सिद्धांतों का अधिलंघन कर नए मानदंड का निर्धारण करते हैं। ऐसे युग पुरुष सदा होते आए हैं और आगे भी होते रहेंगे। ये लीक पर नहीं चलकर अन्यों के लिए लीक का निर्माण करते हैं। काव्य के क्षेत्र में भी यह प्रक्रिया चलती रही है। विश्वनाथ, पंडितराज जगन्नाथ, आचार्य मम्मट आदि के काव्यादर्शों के अनुपालन के साथ उन्हें भी किया जा रहा है। प्रसंस्करण की प्रक्षिप्त कहीं तो अन्तःसलिला सरस्वती सदृश अदृश्यमान है और कहीं त्रिपथगा की भाँति प्रत्यक्षतः प्रवहमान है। आचार्य जी की मूक साधना मूकमाटी के सदृश ही है। माटी की सोंधी गन्ध से उनकी साधना सुवासित है। कल्पना का अर्थ ही "मूकमाटी" में बदला-सा प्रतीत होता है। वास्तविकता एवं व्यावहारिकता

से मयोजित कल्पना प्रकृतिस्थ है   काव्य के इसी स्वरूप की व्याख्या करते हुए सुप्रसिद्ध काव्यशास्त्री एल० अवरक्रोम्बी ने कहा है।[1]

काव्य या महाकाव्य के विषय में भी विद्वानों में मतैक्य नहीं रहा है। प्राचीन एवं अर्वाचीन काव्यशास्त्रियों के मतों में परस्पर विरोध नहीं तो वैमत्य अवश्य है। महाकाव्यों की रूपरेखा और रचना शैली में थोड़ा-बहुत अन्तर होने पर भी पाश्चात्य और भारतीय महाकाव्यों के मौलिक सिद्धांत एक ही है। मैकनेल डिक्सन ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है—

"महाकाव्य सब देशों में एक जैसा होता है। वह चाहे पूरब का हो या पश्चिम का, उत्तर का हो अथवा दक्षिण का, उसकी आत्मा और प्रकृति सर्वत्र एक जैसी होती है। उच्च महाकाव्य, वह चाहे कहीं भी निर्मित हो, एक प्रकथात्मक काव्य होता है, उसकी रचना सुसंगठित होती है, उसका सम्बन्ध महान चरित्रों और उनके महान कार्यों से रहता है, उसकी शैली उसके विषय की गरिमा के अनुकूल होती है, उसमें चरित्रों और उनके कार्यकलाप को आदर्श रूप देने का प्रयास होता है और उपाख्यानों तथा वर्णन-विस्तार से उसके कथानक की रक्षा तथा समृद्धि होती है। (एम० डिक्सन-इंगलिश एपिक एण्ड हिरोयिक पोयट्री-पृ० 24)

प्राचीन साहित्य शास्त्रियों के मतानुसार महाकाव्य या काव्य का नायक धीरोद्धात ही होना चाहिए। सामान्य वर्ग का व्यक्ति महाकाव्य का नायक नही हो सकता था। परवर्ती कवियों ने पुराकालीन मान्यताओं से हटकर सामान्य श्रेणी के व्यक्तियों को भी काव्य का विषय बनाया। प्राणवासिनी असूर्यपश्या नारी का स्थान खेत में काम करनेवाली श्रमवाला ने तथा राजा एवं सामन्त का स्थान श्रमजीवियों ने ले लिया। आचार्य विद्यासागर जी के कदम तो और आगे बढ़ गये। मिट्टी सदृश तुच्छ एवं उपेक्षिता वस्तु को महाकाव्य का विषय बनाकर और उसे महाकाव्यों के उपयुक्त सिद्धकर आचार्य जी ने साहित्य को एक अपूर्व नई भावभूमि प्रदान की है। मिट्टी की जीवन-यात्रा मानवीय जीवन-यात्रा का प्रतिरूप है। इसके जीवन-कर्म में मानव-जीवन का दर्शन अन्तर्व्याप्त है। मिट्टी की विकास-कथा के

"The prime material of epic poet, then, must be real and not invented......The reality of the central subject is, of course, to be understood broadly. It means that the story must be founded deep in the general experience of men". (L. Abercromfie-The Epic P-55).

विभिन्न चरणो के माध्यम से पुण्यकार्योत्पन्न उपलब्धियो का आकलन प्रस्तुत किया गया है।

वस्तुत: यह कहना कठिन है कि "मूकमाटी" को काव्य कहा जाए या आध्यात्मिक कृति। सूक्ष्म दृष्टि से काव्य का पर्यावलोकन किया जाए तो ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें दार्शनिक एवं आध्यात्मिक गूढ़ार्थों की सहज एवं बोधगम्य व्याख्या की गयी है। पुस्तक के "प्रस्तवन" में डा० लक्ष्मीचन्द्र जैन जी का प्रकथन पूर्णत: सार्थ और संगत लगता है—"इसलिये आचार्य श्री विद्यासागर की कृति "मूकमाटी" मात्र कवि कर्म नहीं है यह एक दार्शनिक संत की आत्मा का संगीत है। वास्तव में "मूकमाटी" का रोमांस भी आध्यामिक कोटि का ही है। माटी कुम्भकार की प्रतीक्षा युग-युग से इसलिए कर रही है कि वह किसी दिन उसका उद्धार अवश्य करेगा और मंगल घट के रूप में उसे वांछित मर्यादा प्राप्त होगी।

आचार्य जी की इस कृति के इस परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन के लिए इसकी कथावस्तु पर ध्यान देना आवश्यक एवं अभीष्ट होगा। कथावस्तु का अध्ययन भी इस संदर्भ में किया जाना इष्टकर होगा कि आचार्य जी ने जैन दर्शन के कतिपय मूलभूत सिद्धांतों के उद्‌घाटन और संपोषण का कार्य इस कृति में अत्यंत काव्यात्मक कौशल से किया है। आचार्य जी की एतद् सम्बन्धी स्वीकारोक्ति और स्पष्टोक्ति द्रष्टव्य है—"इस संदर्भ में एक बात और कहनी है कि "कुछ दर्शन, जैन दर्शन को नास्तिक मानते हैं और प्रचार करते हैं कि जो ईश्वर को नहीं मानते हैं, वे नास्तिक होते हैं।" यह मान्यता उनकी दर्शन-विषयक अल्पज्ञता को ही सूचित करती है। ज्ञात रहे, कि श्रमण संस्कृति के संपोषक जैन दर्शन ने बड़ी आस्था के साथ ईश्वर को परम श्रद्धेय पूज्य के रूप में स्वीकारा है, सृष्टिकर्त्ता के रूप मे नहीं। इसीलिए जैन दर्शन, नास्तिक दर्शनों को सही दिशा बोध देनेवाला एक आदर्श आस्तिक दर्शन है। यथार्थ में ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता के रूप में स्वीकारना ही, उसे नकारना है, और यही नास्तिकता है, मिथ्या है······। ब्रह्मा को सृष्टि का कर्त्ता, विष्णु को सृष्टि का संरक्षक और महेश को सृष्टि का विनाशक मानना मिथ्या है, इस मान्यता को छोड़ना ही आस्तिकता है "(मूकमाटी-मानस तरंग-पृ० 23-24)। समासत: जैन दर्शन को प्राज्ञप्रौढ़ चिन्तन के साथ काव्यात्मक शैली में प्रस्तुत कर आचार्य जी ने रसास्वाद योग्य ही नहीं बनाया है वरन् इसे विचार और चिन्तन से तरंगायित कर दिया है।

"मूकमाटी" चार परिवर्त्तों में विभक्त है। प्रथम खंड—"संकर नहीं, वर्ण लाभ" में मिट्टी के उस अपरिष्कृत रूप का चित्रण है जब वह "संकर" रूप में थी

अर्थात् उसमें कंकड़-कणादि मिश्रित थे। कुम्भकार मिट्टी से "मंगलघट" निर्माण करने की कल्पना करता है। इस प्रयोजनार्थ वह "माटी" से कंकड़, तृणादि को अलग कर मौलिक वर्णलाभ करता है। द्वितीय परिवर्त्त—"शब्द सो बोध नहीं, बोध सो शोध नहीं" में माटी को खोदने की प्रक्रिया और उस दौरान उसकी कुन्दावली से एक कांटे के सिर फट जाने की घटना का वर्णन है। कुम्भकार को अपने कृत्य पर ग्लानि और पश्चाताप होता है तथा कांटा प्रतिशोध लेने की तैयारी प्रारंभ कर देता है। "पुण्य का पालन : पाप प्रक्षालन" नामक तृतीय खंड मे कुम्भकार द्वारा "माटी की विकास-कथा के माध्यम से पुण्यकर्म के सम्पादन से उपजी श्रेयस्कर उपलब्धि का चित्रण किया गया है। इस क्रम में ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न तत्त्वांशों का विवेचन भी प्रस्तुत है। चतुर्थ खंड में कुम्भकार ने मिट्टी से घट बनाने की अपनी कल्पना को साकार कर दिया है। इस बृहत्काय खंड में तत्त्व-चिन्तन की गम्भीरता और लौकिक तथा अलौकिक जिज्ञासा एवं शोध के तर्क सम्मत उत्तर उपलब्ध हैं।

चार खंडों में विभक्त इस महाकाव्य की कथा इस प्रकार है। मूक मिट्टी से मंगल घट बनाने की कल्पना कुम्भकार करता है। कुम्भकार सर्वप्रथम इससे कंकड़, तृणादि जैसे विजातीय पदार्थों को अलग कर मिट्टी को पूर्ण विशुद्ध बनाने का उपक्रम करता है। वह वर्ण संकरता मिटाकर उसे मौलिक वर्णलाभ की स्थिति मे पहुंचाना चाहता है। माटी खोदने की प्रक्रिया में उसकी कुदाली एक कांटे के माथे पर जा लगती है। सिर फट जाने के कारण कांटा कुपित हो प्रतिशोध लेने की बात सोचने लगता है और कुम्भकार को अपनी असतर्कता पर क्षोभ और ग्लानि होती है। वह माटी में जल मिलाकर उसे मार्दव बनाता है तथा माटी को रौंद-रौंद कर इस योग्य बना देता है कि घट का निर्माण संभव हो सके। घट का निर्माण कर वह उस पर सिंह और श्वान की चित्रकारी करता है। घट को पकाने की योजना बनती है। आवां तैयार होता है। किन्तु वर्षा होने लगती है। वर्षा के प्रतिघात से येन केन प्रकारेण घट को बचा लेता है और मंगलघट तैयार हो जाता है। आवां में तपाने की प्रक्रिया के बीच बबूल की लकड़ी अपनी मनोव्यथा कहती है। पके कुम्भ को कुम्भकार श्रद्धालु नगर सेठ के सेवकों को सौंप देता है ताकि इसमें भरे जल से सेठ आहार के लिए पधारे गुरु का पाद-प्रक्षालन कर सके तथा तृषा तृप्त हो। मिट्टी के कुम्भ का सामान देखकर स्वर्णकलश को चिन्ता होती है। कथा-नायक ने उसकी उपेक्षा करके मिट्टी के घट को आदर क्यों दिया है? इस प्रतिशोध भाव से उद्दीप्त और उद्विघ्न स्वर्णकलश एक आतंकवादी दल का गठन करता है जो सक्रिय होकर सर्वत्र त्राहि-त्राहि मचा देता है। सेठ किसी प्रकार परिवार को

रक्षा प्राकृतिक शक्तियों तथा मनुष्येतर प्राणियों की सहायता से करता है। पुनः सेठ आतंकवादियों को क्षमा कर देता है। सेठ के क्षमा भाव से आतंकवादियों का हृदय परिवर्त्तन हो जाता है।

प्राज्ञ पुरुष आचार्य जी के अनुसार "मूकमाटी" में शुद्ध चेतना की उपासना है जिसका उद्देश्य सुषुप्त इस चैतन्य शक्ति को जागृत करना है "जिसने वर्ण-जाति-कुल आदि व्यवस्था-विधान को नकारा नहीं है परन्तु जन्म के बाद आचरण के अनुरूप, उनमें उच्च-नीचता रूप परिवर्तन को स्वीकारा है......जिसने शुद्ध सात्विक भावों से सम्बन्धित जीवन को धर्म कहा है, जिसका प्रयोजन सामाजिक, शैक्षणिक, राजनैतिक और धार्मिक क्षेत्रों में प्रविष्ट हुई कुरीतियों को निर्मूल करना और युग को शुभ संस्कारों से संस्कारित कर भोग से योग की ओर मोड़ देकर वीतराग श्रमण-संस्कृति को जीवित रखना है।" आचार्य जी की उल्लिखित प्रतिश्रुति के परिप्रेक्ष्य में "मूकमाटी" के आलोचन-विवेचन का प्रयास किया जा रहा है।

पुण्य और पाप धर्म के आधार और उपादान हैं। मन, वचन और शरीर की निर्मलता, स्वच्छ कार्यों के निष्पादन, लोक मंगल की कामना आदि से पुण्य का अर्जन होता है और क्रोध, लोभ, माया एवं मान आदि पाप की कारणता है। स्वामी जी ने इसे सुस्पष्ट करते हुए लिखा है—

> यह बात निराली है कि
> मौलिक मुक्ताओं का निधान सागर भी है
> कारण कि मुक्ता का
> उपादान जल है
> यानी जल ही मुक्ता का रूप धारण करता है।
> तथापि
> विचार करें तो विदित होता है कि
> इस कार्य में धरती का ही प्रमुख हाथ है
> जल को मुक्ता के रूप में ढालने में
> शुक्ति का-सीप-कारण है
> और सीप स्वयं धरती का अंश है
> सागर में प्रेषित किया है
> जड़ को जड़त्व से मुक्त कर मुक्ताफल बनाना
> पतन के गर्त से निकालकर उत्तुंग-उत्थान पर धरना
> धृति-धारिणी धरा का ध्येय है

यही दया-धर्म है
यही जिया कर्म है।

दूसरे पदार्थों से प्रभावित होकर उसे प्राप्त करने की इच्छा और उससे सदा सिक्त रहने की अभिलाषा ही मोह है और सबको छोड़कर अपने आप में भावित होना ही मोक्ष है—

अपने को छोड़कर
पर पदार्थ से प्रभावित होना ही
मोह का परिणाम है
और
सबको छोड़कर
अपने आप में भावित होना ही
मोक्ष का धाम है। (पृ० 109-10)

एकान्तवाद, अनेकान्तवाद, स्याद्वाद जैसे जैनमत के सिद्धान्तों का निर्वाचन करते हुए आचार्य जी ने एक नई शैली का सूत्रपात किया है—

अब दर्शक के मुखमण्डल पर
"ही" और "भी" इन दोनों अक्षरों का।
ये दोनों बीजाक्षर हैं,
अपने-अपने दर्शन का प्रतिनिधित्व करते हैं।
"ही" एकान्तवाद का समर्थक है
"भी" अनेकान्त, स्याद्वाद का प्रतीक
हम ही सब कुछ हैं
यूं कहता है "ही" सदा,
तुम तो तुच्छ, कुछ नहीं हो।
और,
"भी" का कहना है कि
हम भी हैं
तुम भी हो
सब कुछ।
"ही" देखता है हीन दृष्टि से पर को
"भी" देखता है समीचीन दृष्टि से सबको,

"ही" वस्तु की शक्ल को ही पकड़ता है
"भी" वस्तु के भीतरी-भाग को भी छूता है। (पृ० 172-73)

गूढ़ दार्शनिक विषय को इतनी सरल एवं सहज शैली में अभिव्यक्त कर आचार्य जी ने अपनी भाषा-विज्ञता का अनुपम उदाहरण उपन्यस्त किया है।

पतन के गर्त से निकालकर उत्तुंग-उत्थान पर धरना
धृति-धारिणी धरा का ध्येय है।
यही दया-धर्म है
यही जिया कर्म है।

जीवन के लिए साधना अनिवार्य है। साधना के साँचे में अपने को ढालकर ही आस्था के विषय को आत्मसात् किया जा सकता है—

किन्तु बेटा।
इतना ही पर्याप्त नहीं है।
आस्था के विषय को
आत्मसात् करना है।
उसे अनुभूत करना ही
तो
साधना के साँचे में
स्वयं को ढालना होगा संहर्ष

जैन धर्म पृथक् ईश्वर की सत्ता स्वीकार नहीं करता। उसकी मान्यता है कि प्राकृतिक वस्तुओं के पारस्परिक मेल से सृष्टि का क्रम चलता है और उसका उद्देश्य लोक कल्याण है—

नीर की जाति न्यारी है
क्षीर की जाति न्यारी,
दोनों के
परस-रस-रंग भी
परस्पर निरे-निरे हैं
और यह सर्वविदित है
फिर भी
यथा-विधि, यथा-निधि
क्षीर में नीर मिलते ही
नीर क्षीर बन जाता है।

जैन दर्शन में संयम, अहिंसा, सदाचारण आदि का विशेष महत्त्व है। आचार्य जी ने "मूकमाटी" में इन प्रवृत्तियों के स्वीकरण पर विशेष बल दिया है—

मेरे स्वामी संयमी हैं
हिंसा से भयभीत,
और अहिंसा ही है जीवन उनका।
उनका कहना है
कि
संयम के बिना आदमी नहीं
यानी
आदमी वही
जो यथा-योग्य
सही आ···दमी है।

जैन धर्म के अनुसार पुरुष का प्रकृति में रमना ही मोक्ष है। मोक्ष का यह सिद्धांत "मूकमाटी" में प्रदर्शित है—

पुरुष-प्रकृति
यदि दूर होगा
निश्चित ही वह
विकृति का घर होगा
पुरुष का प्रकृति में रमना ही
मोक्ष है, सार है
और
अन्यत्र रमना ही भ्रमना है मोह है; संसार है (पृ० 93)

धार्मिक वृत्तियों के साथ "मूकमाटी" में सामाजिक, राजनैतिक, नैतिक, शैक्षणिक आदि सदुपदेश भी भरे पड़े हैं।

धर्म और नीति सामाजिक मर्यादा-व्यवस्थापन के आधार-स्तम्भ हैं। नीति धर्म का अंग है। संसारिक व्यवस्था के संचालन में इसीलिए इन दोनों की महत्ता स्वीकार की गयी है। "मूकमाटी" में आचार्य जी ने अनेक स्थलों पर इन दोनों के विविध पक्षों का सकारात्मक स्वरूप दर्शित किया है।

आदर्श और व्यवहार के कार्यात्मक स्वरूप का नाम ही नीति है। ऐसे कतिपय नीति वचन प्रस्तुत हैं—

पापी से नहीं
पाप से
पंकज से नहीं,
पंक से
घृणा करो।
अयि आर्य
नर से
नारायण बनो
समयानेचित कर कार्य (पृ० 51)

× ×

प्रत्येक व्यवधान का
सावधान होकर
सामना करना
नूतन अवधान को पाना है
या यों कहें कि
अंतिम समाधान को पाना है। (पृ० 74)

× ×

उदारता और सहिष्णुता नीति का ही अवयव है। नीति-व्यापार में इन दोनों का वर्चस्व सुस्थापित है। ऐसी उदारता और सहिष्णुता के दर्शन भी "मूकमाटी" में होते हैं—

उदारता-पूरी तरह जल से परिचित होने पर भी
आत्म-कर्त्तव्य से
चलित नहीं हुई धरती यह
कृतघ्न के प्रति विघ्न उपस्थित
करना तो दूर
विघ्न का विचार तक नहीं किया मन में।
निर्विघ्न जीवन जीने हेतु
कितनी उदारता है धरती की यह।
उद्धार की ही बात सोचती रहती
सदा-सर्वदा सबकी। (पृ० 195)

सहिष्णुता—अपने साथ दुर्व्यवहार होने पर भी
प्रतिकार नहीं करने का
संकल्प लिया है धरती ने,
इसीलिए तो धरती
सर्व-स्वाहा नहीं ......
और
सर्वस्व को पाना है जीवन में
सन्तों का पथ यही गाता है। (पृ॰ 190)

अपने मत की स्थापना के क्रम में आचार्य जी ने सदुक्तियों के रूप में अनेक ऐसी बातें कही हैं जो मानव-जीवन के सम्यक संधारण और संचालन के लिये अपरिहार्य हैं। बानगी स्वरूप कुछेक स्थल "मूकमाटी" से उद्धृत हैं—

सदय बनो।
अदय पर दया करो
अभय बनो।
समय पर किया करो अभय की
अमृत-मय वृष्टि
सदा-सदा सदाशय दृष्टि
रे जिया, समष्टि जिया करो। (पृ॰ 149)

× ×

उच्च-उच्च ही रहता
नीच-नीच ही रहता
ऐसी मोरी धारणा नहीं है,
नीचे को ऊपर उठाया जा सकता है
उचितानुचित सम्पर्क से
सबमें परिवर्तन संभव है। (पृ॰ 357)

नारी के विभिन्न नामों की व्याख्या भी अभिनव ढंग से की गयी है—

महिला— जो
माह यानी मंगल मय माहौल
महोत्सव जीवन में लाती है
महिला कहलाती वह

× ×

और पुरुष को रास्ता बताती है
सही-सही गन्तव्य का—
महिला कहलाती वह (पृ० 202)

अबला— जो अब यानी
"अवगम"—ज्ञान ज्योति लाती है,
तमिस्त्रामसता मिटाकर
जीवन को जागृत करती है
अबला कहलाती है। (पृ० 203)

कुमारी— "कु" यानी पृथिवी
"मा" यानी लक्ष्मी
और
"री" यानी देनेवाली
इससे यह भाव निकलता है कि
यह धरा सम्पदा-सम्पन्ना
तब तक रहेगी
जबतक यहाँ "कुमारी" रहेगी। (पृ० 204)

स्त्री— "स्" यानी सम-शील संयम
"त्री" यानी तीन अर्थ हैं
धर्म, अर्थ, काम-पुरुषार्थों में
पुरुष को कुशल-संयत बनाती है
सो······स्त्री कहलाती है। (पृ० 205)

सुता— "सु" यानी सुहावनी अच्छाइयाँ
और
"ता" प्रत्यय वह
भाव-धर्म, सार के अर्थ में होता है
यानी,
सुख-सुविधाओं का स्रोत···सो—
"सुता" कहलाती है। (पृ० 205)

दुहिता— दो हित जिसमें निहित हों
वह "दुहिता" कहलाती है
अपना हित स्वयं ही कर लेती है,

पतित से पतित पति का जीवन भी
हित सहित होता है, जिससे
वह दुहिता कहलाती है। (पृ० 205)

मातृ— हमें समझना है
"मातृ" शब्द का महत्व भी।
प्रमाण का अर्थ होता है ज्ञान
प्रमेय यानी ज्ञेय
और
प्रमातृ को ज्ञाता कहते हैं संत।
जानने की शक्ति वह
मातृ-तत्त्व के सिवा
अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होती।
यही कारण है, कि यहाँ
कोई पिता-पितामह, पुरुष नहीं है,
जो सबकी आधारशिला हो,
सबकी जननी
मातृ मातृतत्व है। (पृ० 206)।

सज्जन-दुर्जन की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए आज के मानव का सजीव चित्र "मूकमाटी" में प्रस्तुत है—

एक-दूसरे के सुख-दुख में
परस्पर भाग लेना
सज्जनता की पहचान है,
और
औरों के सुख को देख जलना
औरों के दुख को देख, खिलना
दुर्जनता का सही लक्षण है। (पृ० 168)

× ×

जो परस्पर एक-दूसरे के
खून के प्यासे होते हैं
जिनका दर्शन सुलभ है
आज इस धरती पर। (पृ० 169)

अनेकान्तवाद (स्याद्वाद) का पक्ष पोषण करते हुए कहा गया है कि स्याद-वाद के सिद्धांतों (भी) से ही लोकतंत्र की रक्षा संभव है, एकान्तवाद (ही) के समर्थन से नहीं—

लोक में लोकतंत्र का नीड़
तबतक सुरक्षित रहेगा
जबतक "भी" श्वास लेता रहेगा।
"भी" से स्वच्छन्दता-मदान्धता मिटती है
स्वतंत्रता के स्वप्न साकार होते हैं,
सद्विचार सदाचार के बीज
"भी" में हैं, "ही" में नहीं। (पृ० 173)।

धर्म का उद्देश्य लौकिक व्यवस्था को संयमित और सुदृढ़ करना होता है और आदर्श धर्म भी लौकिक व्यवस्था या मानदंड का विसंवादी नहीं होता। "मूकमाटी" से ऐसी कुछ बानगियाँ उद्धृत हैं—

विनय-अनुनय के साथ
शिष्टों पर अनुग्रह करना
सहज-प्राप्त-शक्ति का
सदुपयोग करना है, धर्म है।
और
दुष्टों का निग्रह नहीं करना
शक्ति का दुरुपयोग करना है, अधर्म है। (पृ० 277)

आचार-धर्म-दर्शन को केन्द्रित और समर्पित इस महाकाव्य की भाषा-शैली की मनोहरता, विदग्धता, सहजता और स्वाभाविकता विचक्षण है। दर्शन और धर्म के गूढ़ार्थान्वित सिद्धांत कोमलकान्त पदावली में हैं। वर्चस्व-स्थापन के लिए भाव और भाषा का पारस्परिक संघर्ष अन्ततः अनिर्णायक ही रह जाता है। दोनों को अपनी विजय पर गर्व है।

गूढ़ सिद्धांतों को सरल शब्दों में अभिव्यक्त करना काव्य की सर्वोच्च सफलता मानी जाती है। इस प्रयास में आचार्य जी अतुलनीय है। एक उदाहरण देखें—

पुरुष का प्रकृति में रमना ही
मोक्ष है, सार है।
और अन्यत्र रमना ही,

भ्रमना है
मोह है, संसार है ··· (पृ॰ 13)

मोह और मोक्ष जैसे तत्त्व की व्याख्या का प्रसंग देखें —

अपने को छोड़कर
पर-पदार्थ से प्रभावित होना ही
मोह का परिणाम है
और
सब को छोड़कर
अपने आप में भावित होना ही
मोक्ष का धाम है। (पृ॰ 110)

भाव-भाषा और अभिव्यक्ति कला (शैली) का गुणनफल ही कवि कर्म की सफलता का निकष है। इस दृष्टि से आचार्य जी अप्रतिम सिद्ध होते हैं। भाव को सहज शैली और अति बोधगम्य भाषा में प्रस्तुत कर इन्होंने काव्य शैली को एक अभिनव दिशा प्रदान की है। शब्दों के चयन में इनका भावुक हृदय सहजोन्मुख और लोकोन्मुख है। तत्सम शब्दों को भी लोक की झोली में डालकर इस प्रकार हिलाते हैं कि सब की हृतंत्री निनादित हो उठती है। एक उदाहरण अलम होगा—

रसनेन्द्रिय के वशीभूत हुआ व्यक्ति
कभी भी किसी भी वस्तु के
सही स्वाद से परिचित नहीं हो सकता,
भात में दूध मिलाने पर
निरा-निरा दूध और भात नहीं,
मिश्रित स्वाद ही आता है
फिर, मिश्री मिलाने पर···तो
तीनों का सही स्वाद लुट जाता है। (पृ॰ 281)

वर्ण—विपर्यय द्वारा शब्दों में अर्थ-चमत्कार उत्पन्न करने में आचार्य जी को सम्भवतः अद्वितीयता प्राप्त है। ऐसे भूयश: स्थल समुद्धरणीय हैं किन्तु किंचित उदाहरणों में ही लोभ-धारण करने का विनम्र प्रयास है- -

मुख से बाहर निकली है रसना,
थोड़ी-सी उलटी-पलटी,
कुछ कह रही-सी लगती है- -
भौतिक जीवन में रसना।

और

र···स···ना, ना···स···र
यानी बसन्त के पास सर नही था
बुद्धि नहीं थी हिताहित परखने की,
यही कारण है कि
बसन्त-राम जीवन पर
सन्तों का नाडसर पड़ता है (पृ० 181)

शब्दों के विभिन्न वर्णों की व्याख्या द्वारा शब्द के मामर्थ्य की पहचान कराने में भी आचार्य जी का जोड़ नहीं है—

"सृ धातु गति के अर्थ में आती है,
सं यानी समीचीन
सार यानी सरकरना···
जो सम्यक् सरकता है
वह संसार कहलाता है। (पृ० 161)

काव्य में बिम्ब द्वारा भावचित्र खड़ा करने की प्रक्रिया जटिल तो होती है किन्तु बिम्ब द्वारा पाठकों तक आशय पहुँचाने में कवि को सहूलियत होती है। इसलिए प्रायः अधिकांश काव्य कृतियों में बिम्ब का आविर्भाव है। "मूकमाटी" में भी आचार्य जी ने अति सार्थक बिम्बों का निर्माण कर भाव को सुस्पष्ट और बोधगम्य बनाने में महारथ हासिल किया है। बिम्ब-प्रतिबिम्ब का एक चित्र देखें—

माँ के विरह से पीड़ित
रह-रहकर
सिसकते शिशु की तरह
दीर्घ-श्वास लेता हुआ
घर की ओर जा रहा सेठ······

× ×

प्राची की गोद से उछला
फिर
अस्ताचल की ओर ढला
प्रकाश-पुंज प्रभाकर-सम
आगामी अन्धकार से भयभीत
घर की ओर जा रहा सेठ······

सूक्ति मुहावरा, कहावत, लोकोक्ति, लौकिक न्याय आदि ऐसे शैली-घटक हैं जो भावों को उछालकर लोक में विकीर्ण कर देते हैं। लोक उन्हें अपनी ही वस्तु समझ कर ग्रहण कर लेता है। इसलिए कवियों की भावाभिव्यक्ति के ये अमोघ अस्त्र बन गए हैं। आचार्य जी ने इन अमोघास्त्रों द्वारा भाव-प्रकाशन के लक्ष्य का सुभेदन जिस कौशल से किया है उसकी कुछ बानगियाँ द्रष्टव्य है—

कथनी और करनी में बहुत अन्तर है,
जो कहता है वह करता नहीं,
और जो करता है वह कहता नहीं। (पृ० 226)

× ×

अपनी दाल नहीं गलती, लखकर,
अपनी चाल नहीं चलती, परखकर
हास्य ने अपनी करवट बदल ली (पृ० 134)

× ×

और सुनो।
यह सूक्ति सुनी नहीं क्या।
आमद कम खर्चा ज्यादा
लक्षण है मिट जाने का
कूबत कम गुस्सा ज्यादा
लक्षण है पिट जाने का।

अलंकार काव्य का भूषण है। काव्यांग को समलंकृत कर पाठकों के लिए सहज आकर्षणीय बनाने का कार्य इसके द्वारा संपादित होता है। अलंकारों का सायास प्रयोग भाव और भाषा को बोझिल बनाता है किन्तु उसका स्वाभाविक प्रवहमान स्वरूप भावों का सौंदर्य प्रवर्द्धित कर देता है। "मूकमाटी" में अलंकारों का निरायास आगमन ऐसा प्रतीत होता है मानो भाव के सामने अलंकार नतमस्तक हो। विनम्रता और शालीनता द्वारा अपनी गुरु-गंभीरता का गुण प्रकट करते हैं। कुछ स्थल ध्यातव्य हैं—

कृष्ण-पक्ष के चन्द्रमा की-सी
दशा है सेठ की
शान्त रस से विरहित कविता-सम
पंछी की चहक से वंचित प्रभात-सम

शीतल चन्द्रिका से रहित रात-सम
और
बिन्दी से विकल
अबला के भाल सम। (पृ० 351-52)

× ×

अत्यल्प तेल रह जाने से
टिमटिमाते दीपक-सम
अपने घट में प्राणों को संजोये
मन्थर गति से चल रहा है सेठ।

समासतः यही कहा जा सकता है कि "मूकमाटी" पिछले दशक की एक सर्वाधिक सशक्त कृति है। यशस्य महाकवि आचार्य विद्यासागर जी ने इस दीपदान द्वारा हिन्दी काव्य जगत् को केवल आलोकित ही नहीं वरन् विस्तीर्ण भी किया है। आचार्य के इस अवदान के लिए हिन्दी जगत् उनका सर्वदा ऋणी रहेगा। भाव और कला दोनों दृष्टियों से पूर्णतः समृद्ध इस महाकाव्य और महाकाव्य के प्रणेता यशस्वी संत कवि के प्रति मेरी सश्रद्ध प्रणति निवेदित है। भर्तृहरि ने ऐसे ही मनीषियों को ध्यान में रखकर कहा है—

क्षीयन्ते अखिल भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणं।

जय योधेय

मानव जीवन में उत्पन्न जटिलताओं से अद्भूत समस्याओं का भार जब कविता और नाटक द्वारा वहन नहीं किया जा सका तब मानव की अनुभूति अजस्र स्रोत कविता और नाटक की शास्त्रीय परिधि का अतिक्रमण कर प्रकृत रूप मे प्रवाहित हो गयी। अनुभूति की इस सहज अभिव्यक्ति को ही उपन्यास कहा गया। उपन्यास कविता की तरह गगनचारी न होकर मानव-जीवन की यथार्थता से लिपट गया। इसके विस्तृत आयाम में मानव-जीवन के भावात्मक, बौद्धिक और वैज्ञानिक सभी क्षेत्रों का प्रवेश हो गया।

प्रारंभ में उपन्यास का उद्देश्य मात्र मनोरंजन या विनोद था। ऐसे उपन्यासों का एक ही लक्ष्य होता था और वह था कि पाठक यथार्थ जीवन की कठोरताओं से विलग होकर मुक्त पक्षी के समान आनंदाकाश में विचरण कर सके। देवकीनंदन खत्री के तिलस्मी एवं गोपाल प्रसाद गहमरी के जासूसी उपन्यासो मे इसी प्रवृत्ति का प्रतिफलन हुआ है। ऐसे उपन्यासों के कारण पाठकों की संख्या मे आशातीत वृद्धि हुई किन्तु इनमें कुछ ऐसे भी पाठक निकले जिन्हें उपन्यास में केवल अस्वाभाविक एवं चमत्कारपूर्ण घटनाओं का वर्णन रुचिकर एवं हितकर नहीं लगा। उपन्यास से यह आशा की जाने लगी कि वह लोकरंजन की ओर ही नहीं, लोक-रक्षण की ओर भी उन्मुख हो। पाठकों की आकांक्षाओं के अनुरूप भी उपन्यास लिखे गए जिनमें कुतूहल और विस्मय के स्थान पर मानव-जीवन और भौतिक जगत् की विभिन्न समस्याओं की विवृति होने लगी। फलतः बीसवीं शताब्दी मे सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, राजनैतिक, ऐतिहासिक एवं आंचलिक प्रवित्तियाँ उपन्यासो मे उभरने लगी और इन प्रवृत्तियों पर आधारित उपन्यासों की रचना होने लगी।

ऐतिहासिक उपन्यासों का जन्म प्रथमतः पलायनवादी प्रवृत्ति के रूप मे हुआ। स्वतंत्रता पूर्व देश मे एक विशेष प्रकार की प्रवृत्ति विकसित हुई थी और वह थी सामाजिक विषमताओं एवं युग की उलझी गुत्थियों से पलायन की। ऐसे ऐतिहासिक उपन्यासों का उद्देश्य पाठकों का अतीत के प्रति औत्सुक्य भाव उत्पन्न

कर उजागर रखना था। वसे आनुषंगिक रूप मे यत्र तत्र समीन समस्याओं का आंशिक चित्रण भी हो जाता था। वृन्दावन लाल वर्मा के "गढ़कुंडार", "विराटा की पद्मिनी", "झाँसी की रानी", "सोना" आदि उपन्यासों को इसी कोटि में रखा जा सकता है। विशुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास लिखना बड़ा दुष्कर कार्य है क्योंकि इतिहास और साहित्य में छत्तीस का संबंध है। इतिहास में जहाँ शुष्क तथ्यात्मक विवरणों का उल्लेख होता है वहाँ साहित्य में अर्थात् ऐतिहासिक उपन्यासों में तथ्य और कल्पना (फैक्ट्स और फिक्शन) का मणिकांचन सुमेल करते हुए उपन्यासकार को अपनी बात इस प्रकार कहनी पड़ती है कि तथ्य भी क्षुण्ण न हो और कल्पना भी अस्वाभाविक न लगे। तथ्य और कल्पना का संतुलन ही ऐतिहासिक उपन्यासो की सफलता है। इन्हीं बातों के चलते लेसली स्टीफन ने कहा था कि ऐतिहासिक कथानक अच्छे उपन्यासों के लिए घातक हैं। इन्हीं के मत का आंशिक समर्थन करते हुए सुप्रसिद्ध इतिहासकार पालग्रेव ने लिखा था कि ऐतिहासिक उपन्यास इतिहास के शत्रु होते हैं।

यह भी कहा जाता है कि ऐतिहासिक उपन्यास न तो इतिहास के साथ न्याय कर पाते हैं, न साहित्य के साथ। तो फिर ऐतिहासिक उपन्यास लिखने की और लेखक उत्प्रेरित क्यों होता है? इसके दो कारण मालूम होते हैं। उपन्यासकार को जब ऐसा लगता है कि इतिहासकार किसी व्यक्ति-विशेष या घटना-विशेष के प्रति न्याय नहीं कर सका है तो वह इतिहास के पुर्नमूल्यांकन की दृष्टि से ऐतिहासिक उपन्यासों का सृजन करता है। कुछ उपन्यासकार अपने उपन्यास की कथावस्तु इसलिए इतिहास से लेते हैं कि वे घटना या व्यक्ति विशेष के माध्यम से अपनी मान्यताओं को अधिक प्रभावोत्पादक ढंग से रखना चाहते हैं।

अद्यावधि रचित हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ परिलक्षित हैं—मानवतावादी दृष्टि से वर्त्तमान के परिप्रेक्ष्य में अतीत का चित्रण और मार्क्सवादी भावना से प्रेरित होकर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सहारे इतिहास का अनुशीलन-परिशीलन। वृन्दावन लाल वर्मा, आचार्य चतुरसेन शास्त्री, अमृतलाल नागर, हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यास प्रथम कोटि के अन्तर्गत और राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, रांगेय राघव के उपन्यास द्वितीय कोटि में परिगणित किए जा सकते हैं।

निस्संदेह हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों में राहुल सांकृत्यायन के उपन्यास हैं—"सिंह सेनापति", "जय योधेय", "मधुर स्वप्न" और "विस्मृत यात्री"।

इन चारों ऐतिहासिक उपन्यासों में "जय यौधेय" औपन्यासिक कला की दृष्टि से श्रेष्ठतर लगता है। डा० नगेन्द्र सदृश तीक्ष्णप्रज्ञ समीक्षक ने स्वीकार किया है कि 'औपन्यासिक कला की न्यूनता होते हुए भी राहुल जी के ये दोनों उपन्यास (सिंह सेनापति और जय यौधेय) विशेषकर "जय यौधेय" हिन्दी के कथा-साहित्य में निश्चय ही एक विशेष गौरव के भागी होंगे।"[1]

"जय-योधेय" की कथावस्तु "योधेय" नामक गणराज्य से संबंधित है। चौथी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यह शक्तिशाली गणराज्य लिच्छिवि, मालव, गांधार जैसा स्वतंत्रगण था। यद्यपि इस उपन्यास में योधेय वीर जय के जीवन-वृत्त का चित्रण है किन्तु इसके जीवन-वृत्त के माध्यम से राहुल जी यौधेय गण के सामूहिक जीवन-संघर्ष का चित्रण करते हैं। वस्तुतः उपन्यास का नायक जय योधेय गण-जीवन के प्रतीक रूप में चित्रित है।

जय योधेय जाति का नेता है जिसमें स्वाधीनता, कर्त्तव्य परायणता तथा राष्ट्रीयता की भावना कूट-कूट कर भरी हुई है। जय परलोकवाद, ईश्वरवाद में विश्वास नहीं करता, वह विश्वास करता है सामाजिक समानता, आर्थिक समानता में। "परलोकवाद" के संबध में उसके विचार इस प्रकार हैं —"पुत्र पिता का परलोक है, पुत्र पिता का पुर्नजन्म है। पिता मरने से पहले अपने शरीर, अपने मानसिक और शारीरिक संस्कार का एक अंश माता के शरीर में स्थापित करता है।"

जय ईश्वरवाद में भी विश्वास नहीं करता। वह ईश्वर की कल्पना को राजाओं की कल्पना मानता है जो जनसमूह को कायर बना देती है। कार्ल-मार्क्स की तरह जय भी ईश्वर को अभिजात्य वर्ग की दुरभिसंधिपूर्ण कल्पना मानता है। इस उपन्यास में त्याग, वैराग्य आदि काल्पनिक सुखों का तिरस्कार और स्वस्थ्य जीवन उपभोग की स्वीकृति है। राजतंत्र और अध्यात्मवाद का घोर विरोध इस उपन्यास में हुआ है।

जहाँ तक उपन्यास में वर्णित जीवन-दर्शन का प्रश्न है, यह स्वीकार किया जा सकता है कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ही इसका प्रतिपाद्य है और इसके मूल में मार्क्स की आधुनिक विचारधारा की ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में सपाट व्याख्या ही है। इसमें अध्यात्मवाद का तीव्र निषेध और भौतिकवाद की प्रतिष्ठा है। वैयक्तिक जीवन की अपेक्षा सामूहिक जीवन की सफलता दिखाई गई है।

---

1 अखिल भारतीय भोजपुरी, परिषद्, लखनऊ-राहुल परिक्रमा—पृ० 145

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि उपन्यास का नायक जय राहुल जी के विचारों का मात्र संवाहक है इसलिए "जय" के जीवन में राहुल जी का ही आदर्श और जय के स्वप्न में राहुल जी का ही स्वप्न मुखर है। जय ऐसे नवीन समाज की स्थापना का स्वप्न देखते हैं जिसे राहुल जी देखा करते थे—मैं भारत खंड को इसी तरह स्वतंत्र गणों का स्वच्छन्द संघ देखना चाहता हूँ। सच कहा जाए तो भारत में सोवियत संघ के सामाजिक विधान की स्थापना की राहुल जी की कल्पना ही इस उपन्यास का उद्देश्य है। एक तरह से कहा जा सकता है कि यह उपन्यास समाजवादी सिद्धान्तों की स्थापना के उद्देश्य से रचित साहित्यिक कृति है।

उपन्यास आत्म कथात्मक शैली में है किन्तु राहुल जी ने काल्पनिक कथाओं को भी इस प्रकार विन्यस्त किया है कि वे पूर्ण ऐतिहासिक लगती है। उपन्यास कल्पनाश्रित होते हुए युगीन समस्याओं के चित्रण तथा वर्तमान समस्याओं के प्रस्तुतिकरण में सफल है।

स्वाभवतः यह प्रश्न उठता है कि उपन्यास में फैक्ट्स (इतिहास) और फिक्शन (कल्पना) का कैसा मेल हुआ है। "जय योधेय" में गुप्तवंश के प्रमुख व्यक्ति समुद्रगुप्त, रामगुप्त, ध्रुवस्वामिनी आदि तथा उनके जीवन-संबंधी घटनाएँ ही प्रामाणिक हैं। आधिकारिक कथावस्तु के रूप में तो केवल योधेय का समुद्रगुप्त से युद्ध ही प्रामाणिक माना जा सकता है, शेष वृत्तान्त ऐतिहासिक तथ्यों पर नहीं, ऐतिहासिक कल्पना पर आधारित हैं, यहाँ तक कि नायक जय भी काल्पनिक चरित्र है। ऐसा करना उपन्यासकार की विवशता ही थी क्योंकि "दो-चार सिक्कों और एक-आध प्रशस्ति में दिए हुए स्फुट उल्लेखों में सामग्री ही क्या मिल सकती थी, केवल संकेत ही मिल सकते थे और उन संकेतों का उपयोग लेखक ने अपने सम्पूर्ण कल्पना-वैभव की सहायता से किया है, इसमें संदेह नहीं।"[1] "महापंडित राहुल ने इस विकीर्ण सामग्री को एकत्रित कर उस विलुप्त-प्रायः इतिहास को फिर से जगाया है। इस महान् अनुष्ठान में उनका समृद्ध पुरातत्व ज्ञान तो सहायक हुआ ही, परन्तु साथ ही बौद्ध संघ और सोवियत विधान का क्रियात्मक ज्ञान भी कम उपयोगी सिद्ध नहीं हुआ।"

हिन्दी की भाषा शैली के विकास में उपन्यास का महत्त्वपूर्ण योगदान है, इसे सभी स्वीकारते हैं। डा० नगेन्द्र ने लिखा है—"अतीत के सांस्कृतिक ऐश्वर्य

---

1. डा० नगेन्द्र का लेख—राहुल के दो ऐतिहासिक उपन्यास : इनमें क्या है

को अभिव्यक्त करने के लिए जिस समृद्ध और समर्थ शब्दावली का प्रयोग स्वर्गीय प्रसाद जी ने अपने नाटकों में आरंभ किया था, राहुल जी ने उसकी और भी अधिक श्रीवृद्धि की है......इसी प्रकार आज की राजनीति और भौगोलिक शब्दावली के भी प्राचीन पर्याय देकर एक बहुत बड़ी क्षति की पूर्ति की गई है।"[2]

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि "जय यौधेय" हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों में विषय-वस्तु एवं कथा-शिल्प दोनों दृष्टियों से एक महत्वपूर्ण कृति है।

2. अखिल भारतीय भोजपुरी परिषद्, लखनऊ-परिक्रमा—पृ० 145

नेपाल की क्रान्ति कथा

कथाशिल्पी फणीश्वरनाथ रेणु एक रचनाकार ही नहीं, क्रान्तिकारी योद्धा भी थे। नेपाल की राणाशाही के अन्याय एवं अत्याचार के विरुद्ध जनता द्वारा छेड़े गए संग्राम में उन्होंने एक मुक्तिसैनिक के रूप में सक्रिय रूप से भाग लिया था। नेपाल क्रान्ति कथा एक मुक्ति सैनिक के रूप में रेणु के अनुभवों का शब्द विमात्मक वृतान्त हैं। विधा की दृष्टि से इसे रिपोर्ताज की श्रेणी में रखा जा सकता है किन्तु यह उनके अन्य रिपोर्ताजों से भिन्न है क्योंकि इसमें मुक्ति युद्ध का मात्र आँखों देखा विवरण नहीं वरन् औपन्यासिक ढंग से कहा गया मुक्ति युद्ध का सजीव और जीवन्त चित्रण है।

रेणु नेपाल में प्रजातन्त्र के लिए हो रहे संघर्ष के दुधर्ष योद्धा रहे थे। उनके इस पक्ष को उद्घाटित करते हुए पुस्तक के प्रारंभ में ही जननायक विश्वेश्वर प्रसाद कोइराला ने लिखा है वह (रेणु) स्वतंत्रता का प्रचण्ड योद्धा था। नेपाल में प्रजातंत्र के हमारे संघर्ष में उसने हमसे कन्धे से कन्धा मिलाया। राणा शासन को अपदस्थ करने हेतु नेपाली कांग्रेस ने 1950 में जो सशस्त्र क्रान्ति छेड़ी थी, उसमे रेणु भी शामिल हो गया और मुक्ति सेना की फौजी वर्दी में मेरे साथ बन्दूक लेकर मोर्चे पर कूद पड़ा। क्रान्ति के समय उसने नेपाली कांग्रेस के प्रचार-प्रकाशन तथा विराटनगर से स्थापित एक गैरकानूनी आकाशवाणी के संगठन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि नेपाली क्रान्ति कथा नेपाल की क्रान्ति का एक प्रामाणिक दस्तावेज है जिसके लेखक ने कलम के साथ-साथ वन्दूक को भी समान उत्साह और ओज के साथ ग्रहण किया था। क्रांति की यह कथा किसी इतिहासकार द्वारा प्रामाणिक दस्तावेजों एवं उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर नही वरन् स्वय एक सैनिक के रूप में संघर्ष करते हुए मुक्ति सैनिक द्वारा लिखी हुई है, इसलिए इसमे तथ्यों का अप-मिश्रण नहीं है।

रचनाधर्मिता के प्रति पूर्णतः समर्पित होते हुए भी रेणु में राजनीतिक सक्रियता सतत प्रवहमान रही। उनकी राजनीतिक गतिविधि केवल अपने देश

---

1. फणीश्वरनाथ रेणु नेपाली क्रान्ति कथा—पृ० 9

तक ही सीमित नहीं रही अपितु भारत के कई अन्य राजनेताओं की भाँति पड़ोसी देश नेपाल के राजनीतिक आन्दोलन का भी सूत्र संचालन करती रही। वैसे रेणु की प्रारंभिक शिक्षा-दीक्षा नेपाल में ही कोइराला परिवार के संरक्षकत्व में हुई। स्मर्यमाण है कि नेपाल में जनतंत्र आन्दोलन का सूत्रधार और सचालक यही परिवार रहा है। भारत में नेहरू परिवार और नेपाल में कोइराला परिवार की स्थिति प्रायः समान रही है। दोनों परिवार के सभी पुरुष सदस्यों की क्रान्तिकारी गतिविधियाँ भी तत्सम और तदनुरूप रही हैं।

क्रांतियां तो अनेक देशों में हुई हैं और उसके इतिहास भी लिखे गए हैं किन्तु वीर सावरकर लिखित भारतीय स्वतंत्रता का इतिहास और रेणु कृत-नेपाली क्रान्ति का इतिहास अपनी प्रामाणिकता के लिए विख्यात हैं, क्योंकि इनके प्रणेताओं की प्रत्यक्ष भागीदारी स्वतंत्रता संग्राम में रही है।

नेपाल की क्रान्ति का केन्द्रस्थल रहा है—विराटनगर, इस्टर्न कमाण्ड का हेड क्वार्टर इसके चीफ थे बी० पी० कोइराला। वहीं से गोरिला युद्ध का श्रीगणेश मुक्ति सैनिकों ने किया था। गोरिला युद्ध के प्रशिक्षक थे भोला चटर्जी। इस युद्ध मे केवल नेपाल के नागरिकों ने ही भाग नहीं लिया था वरन् जोगननी के भावुक गुरुजी फेकन चौधरी, पटना के देवेन्द्र प्रसाद सिंह, लखनलाल कपूर, पूर्णिया जिला सोशलिस्ट पार्टी के महासचिव नरसिंह नारायण सिंह, कामरेड भोलानाथ मंडल, सरयुग मिश्र, अमर शहीद कुलदीप जैसे भारतीय क्रान्तिवीरों ने भी अपने प्राणों की आहुति देकर क्रान्ति की मशाल को नेपाल में प्रज्जवलित रखा था।

नेपाल की जनता को राणाशाही के अत्याचारों से मुक्ति दिलाने के काम मे कोइराला परिवार के अमूल्य योगदान की चर्चा करते हुए रेणु ने लिखा है—"कोइराला निवासी" के उत्तर-पूर्व में है—उत्तम विक्रम राणा का निवास स्थान। विशाल मैदान के बीच ऊँची चहारदीवारी से घिरा दुमंजिला बंगला······कोइराला निवास के पूरब, मैदान के अन्धकार में ही सारी घटनाएं घट रही हैं। उन्नत सिर कोइराला-निवास मानो सब कुछ देख रहा है—कोइराला-निवास। जहाँ साठ साल पहले एक महामानव ने एक विद्रोह की पहली चिनगारी जलायी थी। जिसके प्रत्येक कमरे में न जाने कब से नेपाल की मुक्ति के सैकड़ों सपने देखे हैं, इसके निवासियो ने। और आज जिसका प्रत्येक सदस्य मुक्ति संग्राम का शसत्रय सैनिक है।"[1] विद्रोह की पहली चिनगारी जलाने वाले महामानव थे अमीर शहीद कृष्ण प्रसाद कोइराला

1. रेणु-नेपाली क्रान्ति कथा पृ०—14

जिनके पुत्र-मातृका प्रसाद कोइराला, बी० पी० कोइराला और गिरिजा प्रसाद कोइराला मुक्ति संग्राम के ध्वजवाहक थे।

नेपाली कांग्रेस के सभापति मातृका प्रसाद कोइराला के नेतृत्व में सम्पूर्ण नेपाल राणाशाही के अत्याचार से मुक्ति पाने के लिए एकजुट हो गया था। "भाई टीका" देते समय स्नेहमयी बहनों ने अपने-अपने भाइयों की आँखों में न जाने कैसी चिनगारी देखी कि उनके मुँह से आशीर्वाद के ये दो शब्द स्वयं ही निकल पड़े "जय नेपाल। नेपाली बंधुओं ने अपने-अपने पतियों की खुकरी" को सर से छुलाकर विदाई दी जाय।"[3] मुक्ति सेना की योजना बनी—विराटनगर के मालखान, ट्रेजरी और जेल पर एक भी गोली खर्च किए बगैर ही निःशब्द कब्जा करना होगा। आवश्यकता पड़ने पर संगीन और रिवाल्वर से ही काम लेना होगा। यह हुआ पहला कार्यक्रम। दूसरा काम मोरंग जिला के गवर्नर उत्तम विक्रम राणा के निवास स्थान पर धावा बोलकर, गवर्नर तथा अन्य फौजी अफसरों को गिरफ्तार करना। इस धावे में हम खुलकर हर हथियार का इस्तेमाल करेंगे।"[3]

प्रायः सभी मुक्ति सैनिकों के मन में वह पहाड़ी गीत गूंज रही थी जिसका भावार्थ है—"युद्ध के समय मरने वाले सीधे स्वर्ग पहुँचते हैं? मेरे राह रोकवार कौन खड़े है? पिता? माँ? स्त्री? पुत्र? मैं किसी को नहीं पहचानता। सभी हट जाओ मेरी राह से। मेरी आत्मा सीधे स्वर्ग पहुँचने के लिए मचल रही है।"[4]

औरतों की टोली में दनुजदालनी दुर्गा माता के रूप में मानो आमाँ श्रीमति दिव्या कोइराला (हुँकारती हुई कहती हैं क्या तुम्हारे घर में कलछी, छनौटा, सड़सी, दाब, खुकरी, कुल्हाड़ी कुदाल कुछ भी नहीं? सेफटीपिन और बाल में खोसनेवाले काँटे तो हैं" नेपाल की ललनाएँ प्रतिज्ञा करती है—"राणाशाही जुल्म और अत्याचार का डटकर मुकाबला करूँगी, सिर नहीं झुकाऊँगी।[1]

मुक्ति सेना और राणाशाही फौजों के मुकाबले में थकी हारी मुक्ति सेना की पहली टुकड़ी विराटनगर से सात कोस पूरब रंगेली बाजार में विश्राम कर रही है। रंगीली की जनता के उत्साह, आतिथ्य और देशभक्ति के भाव से मुक्ति सेना को अपार बल और साहस प्राप्त हुआ है। उधर उत्तेजित फौजियों द्वारा कर्नल उत्तम

1. रेणु नेपाली क्रान्ति कथा—पृ० 33
2. ,, ,, पृ०—12
3. ,, ,, पृ०—12
4. ,, ,, पृ०—17

विक्रम राणा के आदेश से घर-घर की तलाशी ली जा रही हैं। मार-पीट, लूटपाट और गिरफ्तारी ' '''औरतों और बच्चों का सम्मिलित रुदन, घायलों की चीख-पुकार से आकाश भर रहा है। सडकों पर अमानुषिक अत्याचार के हृदय विदारक दृश्यों को देखकर सुबह का सूरज सिहर-सिहर जाता है।''[2]

नेपाली क्रान्तिकथा का प्रथम अध्याय इस सूचना के साथ ही समाप्त होता है कि सिंगापुर, मलाया और बर्मा के प्रवासी नेपाली गुरेत्र सैकड़ों की संख्या में मुक्ति युद्ध में शरीक होने के लिए आ रहे हैं।

सात गुरू लघु परिवर्तों में विभक्त इस क्रान्ति कथा के द्वितीय अध्याय मे केशव प्रसाद कोइराला के नेतृत्व में विराटनगर और झापों पर मुक्ति सैनिकों के आक्रमण की साहसिक गाथा का लोमहर्षक वर्णन और मोहन शमशेर द्वारा महाराज त्रिभुवन के स्थान पर क्राउन प्रिन्स के तीन वर्षीय पुत्र को गद्दी पर बैठाने के सम्बन्ध मे भारतीय नीति का अभिकथन है "भारत सरकार महाराजाधिराज त्रिभुवन वीरविक्रम शाह् देवज्यू को ही नेपाल का नरेश मानती है—मोहन शमशेर द्वारा घोषित, शिशु महाराजाधिराज को कोई पागल ही मान्यता दे सकता है—और भारतीय वायुसेना का एक वायुयान महाराजाधिराज को सपरिवार निरापद भारत मे ले आने के लिए भेजा जा रहा है। इस कार्य में किसी भी प्रकार के व्याघात को बर्दास्त नहीं किया जायेगा।"[1]

क्रान्तिकथा के 3-5 अध्याय में पूर्ण क्रान्ति के लिए तैयार नेपाली जनता के दृढ़ मनोबल और राणाशाही से जूझने के दृढ़ संकल्प का वृतान्त अभिव्यंजित है—"नेपाल के कोने-कोने से समाचार आ रहे हैं। सभी तैयार है, सारा देश तैयार है—राणाशाही से जूझने के लिए। नेपाली कांग्रेस के प्रधान कार्यालय में देश-विदेशी पत्रकारों की भीड़ लगी रहती है। सभी बड़े नेता और नायक महाकाल से मंत्री तक नेपाल के विभिन्न अंचलों के दौरे पर हैं। बिराटनगर के गवर्नर उत्तम विक्रम राणा ने अपने निवास को एक सुरक्षित किले में बदल दिया है। दीवार के चारों ओर गहरी खाइयाँ खोद दी गई हैं। बैरक, गोसवारा, माल, अमीनी कचहरियों, बाजार आदि प्रमुख स्थानों के आस-पास टेंटों का जाल बिछा दिया गया है। पहाड़ के रास्ते धनकट्टा होकर काठमाण्डो से राणा सैनिकों की कई

---

1. रेणु—नेपाली क्रान्ति कथा—पृ०-30
2. ,, ,, ,, ,, पृ० 33

टुकड़ियाँ विराटनगर पहुँच चुकी है। सूरज डूबने के दो घंटा पहले से ही कर्फ्यू लागू हो जाता है।"[2]

"महाराजाधिराज त्रिभुवन के सकुशल भारत पहुँचने पर समाचार पाकर मोरंग जिले के गाँव-गाँव में दीपावली मनायी गयी। विराट नगर मथा धरान धनकुट्टा के मन्दिरों में विशेष पूजा......जोगबनी में छात्राओं ने चिरायु रहन-चिरायु रहन श्री पाँच प्रभुज्यु चिरायु रहुन सूर्यचन्द्र के अटल रहन प्रभुछाओस कीति महान समवेत स्वर में गाते हुए एक विशाल जुलूस"[3] निकाला।

इसी अध्याय में राणाशाही के जुल्म और कोइराला परिवार के त्याग और बलिदान का भी दिग्दर्शन कराया गया है। राणाशाही जुल्म और अन्याय का एक प्रसंग इस प्रकार है---नेपाल के तत्कालीन तीन सरकार चन्द्र शमशेर जंग बहादुर राणा इंगलैंड गये थे। वहाँ अपने सम्मान में आयोजित एक भोज सभा में भाषण देते हुए उन्होंने कहा था।

महानुभावों, आप लोगों ने हिन्दुस्तान के हर शहर में कॉलिज और हर गाँव मे स्कूल खोलने की अबाध अनुमति दे दी है और आप यह आशा भी रखते हैं कि हिन्दुस्तान के लोग स्वराज्य की मांग न करें मेरे देश में देखिए। स्कूल, कॉलेज, की बात दूर एक पाठशाला तक खोलने की इजाजत नहीं देते। मेरे देश में मेरे परिवार यानी राणाओं के बच्चों की पढ़ाई के लिए स्थापित दरबार-स्कूल" के अलावे कोई चटसार तक नहीं......सुख और चैन से शासन करना है तो प्रजा को मूर्ख बनाकर रखिए।"[1]

इस समय कृष्ण प्रसाद कोइराला जी युवक थे। उनके एक उदार अंग्रेज मित्र ने एक पत्र के साथ उन्हें इस भोज भाषण की सूचना दी। कोइराला की पत्र पढ़कर उत्तेजित हो गए और उन्होंने तुरन्त एक विनती पत्र तीन सरकार की सेवा में भेजा "निवेदन है, मैंने नेपाल में शिक्षा प्रचार का व्रत लिया है, अतः मुझे अभी मोरग जिला की तराई और पहाड़ियों के गाँवों में पाठशाला खोलने की अनुमति देने की कृपा करें। शिक्षा प्रचार के लिए मैं अपना धनजन और जीवन समर्पित कर दूँगा। विनती पत्र का कोई उत्तर तो नहीं आया किन्तु मोरंग के गवर्नर ने चुपचाप आकर बताया कि तीन सरकार की कोपदृष्टि कोइराला निवास पर पड़ गयी है। इसके तुरन्त ही सरकारी हुक्म आया "इस पागल पंडित दम्पति को पिंजड़े में बन्द

1. रेणु---नेपाली क्रान्ति कथा---पृ०-37
2. ,, ,, ,, ,, पृ०-33
3. ,, ,, ,, ,, पृ०-33

करके पहाड़ी रास्ते से काठमाण्डो भेजो। मोगलांन (हिन्दुस्तान) होकर नहीं। इनकी सारी सम्पत्ति जब्त कर लो।"[1] विराटनगर के गवर्नर की नेक सलाह पर कोइराला दम्पत्ति ने तराई की पगडंडी पकड़ी।...... बीस वर्षों तक विदेश में हिन्दुस्तान और मारिशस नगर-नगर में भटकते रहे।

इसी अध्याय में वीरगंज की राणाशाही से मुक्ति और मुक्तिवाहिनी के सर्वाधिनायक मेजर जनरल सुवर्णी द्वारा नेपाली कांग्रेस के लोकप्रिय कार्यकर्त्ता तथा मुक्ति सैनिक तेज बहादुर को वीरगंज का मिलेटरी गवर्नर मनोनित किए जाने का वर्णन हुआ है। इस मुक्ति अभियान में पश्चिमी मोर्चे के अधिनायक थिरबमभल्ल ने वीरगति पायी।

वीरगंज मुक्ति के उपलक्ष्य में एक ओर इधर वीरगंज के घर-घर पर महलों से लेकर झोरड़ों के मुडेरे पर चार सितारों वाले लाल झंडे लहराने लगे तो उधर काठमाण्डों में जंगबहादुर के वंशजों की अनेकानेक अंग्रेजी उपाधियों और सैकड़ों सामन्ती सम्मान तथा वीरता के स्वर्ण रौप्य काँस्य पदकों की चमक अचानक गायब हो गयी है। कालिमा पुत रही है उनके दरबारों के इर्द-गिर्द। राणातंत्र का अंतिम नामलेवा मोहन शमशेर दाँतों को पीसता हुआ कसमें खा रहा है—मरगत खनैछ......मैं इनका रक्त पीयूंगा.... इनकी बोटियों का कलेवा करूंगा। काग्रेसियों का कच्चा माँस......हा-हा-हा......मार्टार......फील्डगिन...... मशीनगन.....ब्रेनगन..... मरगत खनैछ।

प्रत्येक मुक्ति सैनिक को सर्वाधिनायक सुवर्ण की गंभीर वाणी से आगे बढ़ने की प्रेरणा मिलती है। सर्वाधिनायक सुवर्ण का यह आह्वान साथी हरुहो। आप इसको हमेशा याद रखे कि राणाशाही मात्र नही, यह नेपाल में प्रजातंत्र चाहने वाले प्रत्येक नेपाली की लड़ाई है......हम नेपाल की जनता के सैनिक हैं।"[2]

अब गोरिल्ला छापामारी नहीं, बाजाब्ता युद्ध की दुदुंभी बज चुकी है। इस प्रयोजन गठित बार कौंसिल के नियमानुसार मुक्ति सैनिक विराट नगर की ओर कूच कर जाते हैं। मुक्ति योद्धाओं के प्रत्येक चाप पर नेपाल की धरती मुक्त होती जा रही है। उधर राणाशाही फौज के चेकपोस्ट पर तैनात सन्तरी भागकर गवर्नर उत्तमविक्रम के किला निवास में शरण ले चुके हैं।

---

1. रेणु—नेपाली क्रान्ति कथा पृ० 41
2. ,, ,, ,, ,, पृ०-38
2. ,, ,, ,, ,, पृ०-43

मुक्तिसेना के आगे बढ़ने पर राणाशाही फौज की राइफलें प्रतिरोध के स्वर में गूंज उठीं। विराटनगर की जनता विशेषतः राणाशाही की चाकरी करने वाले अपने-अपने घरों में बंद होकर त्राहि-त्राहि कर रहे हैं। कर्नल उत्तम विक्रम मे किला निवास के अन्दर भय और मायूसी घिरी हुई है। कर्नल के दोनों पुत्र चार-दीवारी के अन्दर से सैन्य-संचालन कर रहे हैं। मुक्ति फौज के सभी मोर्चों पर डटे हुए जवान राणाशाही गोलियों के समुचित उत्तर दे रहे हैं। विराटनगर मुक्ति फौज का कार्यालय स्थापित हो चुका है जिस पर नेपाली कांग्रेस का चार सितारों वाला बड़ा झंडा लहराने लगा है। नागरिक सुरक्षा समिति का गठन हो चुका है।

उधर राणाशाही ने अपनी बिखरी शक्तियों को बटोरकर बीरगंज पर अधिकार करने के लिए अंतिम आक्रमण कर दिया है। शहीदों की धरती पर राणाशाही फौज ने पुनः सामन्तवाद का झंडा गाड़ दिया है। इसके बाद शुरू हुई उसकी पैशाचिक लीला, अस्पताल के मरीजों को, उनके बेड पर ही गोली मारकर हत्याएँ की गयी. बच्चों, बूढ़ों और अपाहिजों को भी नहीं छोड़ा गया। देखते-देखते सारा बीरगंज श्मशान हो गया ......किन्तु राणाशाही फौज की सम्मिलित शक्ति मुक्तिवाहिनी के अटंट बल को तनिक भी भंग न कर सकी। बीरगंज से रिट्रीट करने के बाद वे अन्य मोर्चों पर दूने उत्साह और संकल्प से दुश्मन पर टूट पड़े। बीरगंज के पतन के बाद सारे देश में मुक्तिसेना की गतिविधि एक ही साथ तीव्र हो गयी।"[1]

विराटनगर के मोर्चे पर याकथुम्बा के नेतृत्व में घमासान लड़ाई चल रही है। उधर जनसभा के मंच से नेपाली कांग्रेस के सभापति मातृका प्रसाद कोइराला की गर्जना सुनाई दे रही है—मुठी भर राणाओं की सामन्तशाही चक्की में युगो से पिसती हुई जनता गुलामी की बेड़ियों को तोड़ चुकी है। काली रात का अन्त हो चुका है। प्रजातंत्र का सूरज अब उगनेवाला है। यह नेपाली की सर्वहारा जनता की लड़ाई है। यह जनयुद्ध है। मुक्ति सेना की जीत का मतलब है जनता की विजय, प्रजातंत्र का उदय।"[1]

मुक्ति सेना के प्रत्येक योद्धा की एक ही प्रार्थना है—बुलेट, मारक, विस्फोटक बम, हथगोले और मिले।" फील्ड हास्पिटल में चार सर्जन और पन्द्रह

1. रेणु-नेपाली क्रान्ति कथा—पृ० 55

1. रेणु-नेपाली क्रान्ति कथा—पृ० 56

और नूना भाभी कोइराला निवास की माँ, बेटिया और बहुओं के साथ के प्रतिष्ठित घरो की लडकियाँ स्वय सेविका के रूप मे दिन रात फिरकी की तरह घूमती रहती है।[2] कामरेड तारापद जसे अनेक मुक्ति सनिक बम बनाने का दुष्कर कार्य कर रहे हैं।

क्रान्ति कथा का अन्तिम अध्याय क्रान्ति की विजय की दास्तान है। कर्नल विक्रमराणा के विश्वासघात का बदला चुकाने के लिए मुक्ति सैनिक पागल हो रहे हैं। बिराट के गवर्नर अत्म विक्रम राणा का समर्पण और विराटनगर के पतन के बाद मुक्ति सैनिक काठमाण्डों की ओर बढ़ते हैं। विराट नगर और धारान घनकुट्टा के आत्मसमर्पण के साथ ही मुक्ति संग्राम के अंतिम पर्व का आयोजन शुरू हुआ। प्र० ने० रेडियो से घोषणा की जाने लगी—विजयी मुक्ति सेना अब काठमाण्डों की ओर बढ़ रही है। कुसहाँ घाट के मोर्चे से भागने वाले शरण सैनिकों में अधिकांश तराई की जनता द्वारा पकड़ लिए गए हैं।"[3]

युद्ध भूमि से समझौते के टेबुल पर पहुँचकर नेपाली कांग्रेस के नेताओं ने गलत किया या सही, यह सदा विवाद का विषय बना रहेगा। किन्तु नेपाल क्रान्ति मे विराट नगर ने अपनी शानदार और प्रमुख भूमिका का जिस बहादुरी से निर्वाह किया उसको सभी स्वीकार करेंगे।"

नेपाली क्रान्ति कथा में वर्णित घटनाओं का क्रमबद्ध विन्यास और उनका जीता जागरण विवरण इस कृति की विशिष्टता है। सर विन्स्टन चर्चिल कृत मेम्वायवर कोटि की यह लघु कृति रेणु की अन्यतम रचना कही जा सकती है। सम्पूर्ण कृति में घटनाओं का सहज स्वाभाविक रूप मन मोह लेता है तथा ऐसा मालूम होता है कि संजय तुल्य दिव्य दृष्टि प्राप्त आँखों देखी सजीव क्रान्ति कथा रूप में कोई सुना रहा है। एक उदाहरण प्रस्तुत है— दीवार अरराकर टूट गयी है और मुक्तिवाहिनी का टैंक गर्जन करता हुआ किले के अन्दर प्रवेश कर गया है अब सिर्फ मुक्ति सेना की गोलियाँ बोल रही है। भीषण कलरव, कोलाहल, जयध्वनि मैं देख रहा हूँ, अन्दर की दीवार यानी पूरब की दीवार को फलांग कर राणा के सैनिक भागना चाहते हैं। लेकिन वे एक-एक कर नीचे गिर रहे हैं।"[1]

---

2. रेणु-नेपाली क्रान्ति कथा—पृ० 66
3. रेणु-नेपाली क्रान्ति कथा—पृ० 86
1. रेणु-नेपाली क्रान्ति कथा—पृ० 83

मैला आँचल और परती परिकथा के आँचलिक लेखक ने विश्व तंत्र क्रांति का गीत गया है उससे उसका क्रान्ति के प्रति समर्पण भाव तथा स्वतंत्रता के प्रति दृढ़ आस्था भाव तथा स्वतंत्रता के प्रति दृढ़ आस्थाभाव प्रत्यक्षतः प्रतिभासित हैं। हिन्दी में नेपाली क्रान्ति कथा का वृतान्त प्रस्तुत कर रेणु ने राष्ट्रवादियों को ही नहीं वरन् सम्पूर्ण मानवीय मूल्यों को आन्दोलित किया है।

नेपाली जनता और हिन्दी संसार में रेणु के इस आह्वान का मूल्यांकन स्वर्णाक्षरों में अंकन योग्य है। नेपाली क्रान्ति कथा के द्वारा रेणु जी ने नेपाली जनता और स्वतंत्रता संग्राम में उनके त्याग और बलिदान का तथा उसमे भारतीयों की सहभागिता का यथार्थ चित्रांकन कर दोनों देशों के आपसी संबंध और सौहार्द का मार्ग प्रशस्त किया है। साम्प्रतिक संदर्भ में कृति और भी महत्वपूर्ण बन गयीहै ।

चिरसमाधि

"चिरसमाधि"-(महाकाव्य) की रचना एक अनिर्वचनीय घटना की संतति है। जो नित्य है उसकी नित्यता को, व्यावहारिक जगत् में, कुछेक काल के लिए, नर-निचय-अनित्य मानकर, अनेकों प्रकार के ऊहापोह करने लगते हैं और ये ऊहापोह, नाना प्रकार के रौद्र विप्लव का सृजन कर, राष्ट्र की नैतिक शक्ति को, क्षीणकाय बनाने के उपक्रम में सन्नद्ध हो जाते हैं। व्यावहारिक पक्ष की सत्यता को नकारा नहीं जा सकता, किन्तु इसी को शाश्वत सत्य मानकर, व्यवहार को चलाया नहीं जा सकता ! व्यावहारिक सत्य का दार्शनिक सत्य में विलयन होना ही, जीवन की सार्वभौम इयत्ता है। जनन, स्थगन एवं निधन इन तीनों को प्रवहमानता के अन्तराल में "स्थगन" की ही, सविशेष प्रयोजनीयता है, क्योंकि इसी स्थगन की क्रियाशीलता पर जीवन के जागतिक चित्र-निर्बाध रूप से चल रहे हैं। "जनन" "सर्ग" का प्रथम चरण है, "निधन", "कल्प" का अपर चरण, किन्तु "स्थगन" "कल्प" का सर्वोत्कृष्ट चरण है, "स्थगन" को निरर्थकता का उपादान बना देना कथमपि, जीवन का प्रेय नही माना जा सकता ! जनन और निधन के अन्तराल में अवस्थित "स्थगन" की अवस्थितियों पर ही मानवीयता तथा चराचर की सार्थकता अवलम्बित हैं। "स्थगन" मानवता के न्यासीकृत क्रिया-कलापों की कसौटी ही है।

मानव, सर्वाधिक उपयोगी होने के कारण ही, सृष्टि का सार माना जाता है। इसके सबल प्रश्रय पर ही, भव, विभव, कल्पना, अभिलाषा, तर्क-वितर्क एवं एषणाओं के समस्त क्रिया-कलाप संचरित हैं। मानव को स्वकी सविशेषताओं के परिज्ञान चाहिए ! वह कौन है ? कहाँ आया है ? इसकी अन्तिम परिणति क्या है ? अहर्निश के आवर्त्तन-विवर्त्तन एवं आलोड़न में, इसको सामान्य-स्वाभाविक स्थितियों में, कैसे-कैसे रूपान्तरण आ रहे हैं ? वह जनन के अनन्तर-निधन के पूर्व "स्थगन" में कैसा होना चाहता है ? इसके कायान्तवर्ती जो सद्भाव या असद्भाव न्यासीकृत हैं, इनका उपयोग वह किन रूपों में करना चाहता है ? उनकी विज्ञता ही स्व की सविशेषताओं की सम्बोधि है। सामान्य, मध्यम तथा उत्तम— ये तीन श्रेणियाँ मानवों की मानी जाती हैं। ये श्रेणियाँ-आपेक्षिक ज्ञानोदय के

तारतम्य के कारण ही हैं। सामान्य मानव, मात्र उदर-भरण-पोषण को, जीवन का लक्ष्य-बिन्दु अंगीकृत कर चलते हैं। ऐसे मानव, पापाचार, कदाचार तथा व्यभिचार को नैतिक-पक्ष मान लेते हैं। वे "जनन" को ही सत्य मानते हैं। ऐसे मानवों के लिए "स्थगन" की समलता तथा निर्मलता कोई मूल्य नही रखती। मध्यम वे हैं—जो "स्थगन" की, विशेषताओं को समझते हुए निधन की वरीयता को दृष्टि-पथ में रखते हुए चलते हैं, किन्तु व्यावहारिक जीवन-यापन के समय मानवीय गौरव-गरिमाओं की पावनताओं को विस्मृत कर कदर्थ एवं व्यर्थ अभिनयता के रूप प्रदर्शित करने लगते हैं। उच्चतम सम्बोधि के होते हुए भी, कलुषित आचरणों की ओर अग्रसर होना मध्यम-मानवों की उत्कृष्ट परिणति है।

उत्तम मानव, जनन को क्वाचित्क समझते हैं। निधन को सर्वाधिक सत्य। स्थगन को, जीवन की सार्थकता का महत्वपूर्ण अवदात मानते हैं। कलेवरो के शकोरों में जो जगन्नियन्ता द्वारा सन्देश पीयूष रूप श्रेष्ठ वरदान सन्निहित है, उन्हें पराग पूर्ण सुमनों के पराग बिखेरने की भाँति, सन्देश-पीयूष रूप श्रेष्ठ वरदान, अग-जग को, सम्प्रदान कर देने में ही वास्तविक परमानन्द को प्राप्ति होती है। ऐसे मानव या मानवी ही सृष्टि की सुषमा, विधाता की गरिमा, जनन की महिमा एव निधन की दुनिया को अभ्युन्नत कर, धरित्री की छवि, प्रसवित्री के हेतु रवि एव अखिल ब्रह्माण्ड के हेतु आदि कवि बनकर, देवोपम-सुकृतालजियों के अधिकृत प्राणवन्त अधिकारी के रूप में प्रतिष्ठित होकर एक प्रशस्त आलोक केन्द्र के रूप में विराजने का आस्पद प्राप्त करते हैं।

ऐसे उत्तम नर या नारी समय-समय पर नरोत्तम या नारी उत्तमा का रूप धारण कर धरा धाम पर अवतरित होकर, सृष्टि की सम्पूर्ण सत्ता की विकृतियो की परिष्कृति कर, एक अभिनव आलोकपूर्ण मानवीयता के पावन सोपान प्रस्तुत करने की दिशा में अनवरत जागरूक रहते हैं। एवं भूत दिव्य ज्योतियों के शुभागमन भी, क्वाचित्क ही समझिए! ऐसी ज्योतियाँ, चिर प्राचीन सुमनोपम संस्कृतियो की अखिल सम्प्रदाओं की सुषमा-सुरभियों को अंगीकृत कर, वर्तमान की सङ्गन को आशा-पूर्ण स्वर्णिम स्वस्थ सर्वनिष्ठ ऐसी कालोपयोगी एक आधार-शिला प्रदान करती हैं कि चराचरों को, स्थगन की, सर्व विध सौलभ्य एवं वैविध्य पूर्ण आस्था निष्ठा की प्रतीति होने लगती है। स्थगन की अवस्थितियों को सुलभ बना देना ही अमर ज्योतियों की विशेषताएँ होती हैं।

प्रस्तुत "चिर समाधि" "महाकाव्य" की पृष्ठाधार अमर ज्योति, कतिमय चिरन्तन-ज्योति-पुंजों को अंगीकृत कर ही, भारती की भव्य भावनामयी भाव-भूमि

पर अवतरित हुईं और जनन के अनन्तर एवं निधन के पूर्व तक "स्थगन" की सर्वविध-उपयोगिता के हेतु प्रयत्नशील रहीं। अमर ज्योति ने, अनेक आदर्श विविध काया-कल्पान्तक उपादान तथा जीवनोपयोगी क्रिया-कलापों के नानात्मक प्रतीक-विम्ब-वर्तमान को दिए कि इनपर चलकर वह व्यतीत को गर्वोन्नत तथा वर्तमान को सर्वतो भावेन समुन्नत बनाकर, भविष्य को सुखद आयाम दे सकने में निष्णात-समर्थ हो सके।

प्रस्तुत महाकाव्य के प्रणेता महेश शर्मा "प्रभाकर" अमर ज्योति की समस्त-प्रदत्त अवदान-राशियों की समीचीन उद्धृति-प्रस्तुत कर, भारती की अखण्डता, धर्म-निरपेक्षता, राष्ट्रीयता एवं शान्ति-प्रियता को अमर-सार्वभौम-परम्परा को जो अमर-ज्योति के रूप में अवतीर्ण इन्दु-इन्दिरा की अभीष्टि थीं, जो राष्ट्र-शक्ति की चिर आकांक्षित मनीषा थीं जो विपन्नता को, सम्पूर्ण-सम्पन्नता के रूप में परिवर्तित करने की वांछा थी जो विविधता को, भावाद्वैतता की व्यापक संकुलताओं के आवेष्टन में समाहित करने के हित-साधक-प्राणवन्त-आलोक-शर थे—जिन्हें निरन्तर उद्घोषित करती रहीं अमर-ज्योति जो अखिल विश्व की शान्ति-मसीहा, नरता की शाश्वत अभिलाषा एवं आत्मा की कल्याणमयी संजीविनी की-सी प्रत्यूषा थी। इन धौरेय-अवदात-पाथियों के समुपस्थापन में सम्पूर्ण सफल रहे हैं! सच मानिए तो प्रस्तुत "महाकाव्य" साम्प्रतिक राष्ट्र-चेतना का चिरन्तन-दर्पण है। इसके अन्तराल में इतिहास, साहित्य, काव्य, दर्शन, राजनीति, नीति, लोकाचार, जनन, स्थगन, निधन, उपयोगिता, उपदेयता, सुन्दरता, श्रेय, प्रेय, हेय, एषणात्रय, सन्त-तपस्वियों की वाणी, कर्त्तव्य-बोध, शान्ति, निरस्त्रीकरण, विश्व-बन्धुत्व एवं नागरिकता तथा संस्कारिता के पुनीत दिशा-संकेत-विशद-पावन-सुखद-सरल-सरस शब्दों के पर्यावरण में ऐसे उपनिबद्ध हैं कि एक साथ प्रयाग-त्रिवेणी के मन-भावन दर्शन हो जाते हैं—जिनके पावन कूलों ने "आनन्द-भवन" के भव्य-निकेतन में "कमला" की कोख से ज्ञान-रत्नाकर की लोललहरियों से इन्दु-इन्दिरा" को प्रादुर्भूत कर, भारत के मान-सरोवर को मुदित किया।

प्रस्तुत काव्य के नौ कल्प हैं! ये नौ कल्प अपने वैपथिक-वै[illegible]ष्ट्यों के साथ अतीव-धीर-प्रशान्त उदधि की भाँति, लक्ष्य-बिन्दुओं की ओर चलते हैं। कल्प के अन्तराल में प्रकृति, विकृति एवं संस्कृति के रम्य चित्रणों की अवस्थितियों के साथ-साथ मानव-हृदयों की परिष्कृतियों के भी निष्ठावान आयाम प्रतिपादित हैं—जिन्हें दृष्टि-पथ में रख कर, जीवन के व्यावहारिक पक्षों को मृदुल बनाकर, जीवन-मध्यवर्ती उपादानों को सर्व-सुलभ बनाया जा सकता है! कवि के दृष्टि-बिन्दु, कहीं भी सापेक्षिक रूप धारण नहीं करते! वे दो, नैसर्गिक मानवीय मर्या-

दाओं, आकांक्षाओं, लोक जीवन के आदर्शों एवं जन्म भूमि के आरक्षण, प्रतिरक्षण, सरक्षण एवं अनुरक्षणों के संकल्पित लक्ष्य-बिन्दु जो राष्ट्र-शक्ति के न्यासीकृत साध्य थे और जिनकी, उसने व्यावहारीकरण के हेतु साधना भी की और अत्यधिक रूपों में उनके क्रियाशीलन भी हुए, उन समस्त उपादानों के जीवन-व्यापी उपयोग के हेतु समवतरित करने के प्रयास में संलग्न एवं जागरूक हैं।

साधना, साधक और साध्य, ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इन विविध दार्शनिक-अमृतोपम उपादानों की समीचीन सम्बोधि प्रत्येक के लिए आवश्यक है। केवल ब्रह्म मूलक साधना और अद्वैत मूलक साध्य की चिति की समीहा से जन्म-भूमि की कृतार्थता नहीं होती। सर्वं मिथ्या दुःखम्! सर्वं अनित्यम्! ऐसी दार्शनिकता की घोषणाओं से जिह्वा को भले ही तुष्टि लाभ हो, किन्तु सर्ग को, सर्गान्तवर्ती चराचरों को उनसे कोई प्रयोजन नहीं। सृष्टि की साधना कर्म-साधना है, सबों की भुक्षा-दुभुक्षा-शान्त हों सब मुदित-प्रमुदित हों, सबों के अधर-बिम्ब अरुणिमहों, जीवन-पर्यन्त सभी हरित-भरित रहें। वही प्रवंचना-छलना की कर्तरिकाओं की कटुतम धाराओं से किसी का हनन न हो। ऐसी अवधारणाओं की ज्ञाति ही "साध्य" स्वीकार करें, क्योंकि तपःपूत कृति-कार्यता के प्रश्रय पर ही जीवन के प्रेय पक्ष सफल हो सकते हैं। भागो या मारो-जीवन के साथ नहीं, यह तो व्यक्त रूपात्मक संसार के स्वाभाविक सहजात क्रिया-कलापों का परिहास है।

जन्म भूमि, जन्म-भूमि पर अवस्थित सारे प्राणी, उनके सुख-दुःख हर्ष-विषाद-हास-रुदन, आलिंगन-विरह एवं जनन-निधन के जो प्रत्यक्षतः नर्त्तन-विवर्त्तन चल रहे हैं उनके शिवमय हित में समाहित हो जाना ही, साधना, साध्य और साधक की उच्च विज्ञान-ज्ञान मूलक परिणति मानी जानी चाहिए। पृष्ठाधार जन्म-भूमि को झुठलाकर, निर्मौलिक सारे आयाम, विडम्बना मात्र हैं। राष्ट्र-शक्ति स्वरूपा ने इसी पृष्ठाधार जन्म-भूमि की हित-साधना में स्वयं को विसर्जित करने को, सर्वोच्च प्राथमिकता दी! "प्रभाकर" जी ने प्रस्तुत "महाकाव्य" को जन्म-भूमि में हित-साधन के समग्र उपादानों का एक प्रशस्त केन्द्र बनाया है और इसी केन्द्रित साधना की उपलब्धि में हम सब विसर्जित हों जो काव्हाधार मात्र की पुनीत अभीष्टिथी, इसी को, नरत्व की सफलता का सर्वोच्च सोपान सकारा है! 'चिर समाधि", "महाकाव्य" जन-हित-साधन के हित में विसर्जन का सबल सन्देश देकर सफल आदर्श-प्रतीक बनने की प्रेरणा-प्रदान करता है। कवि को प्रस्तुत लक्ष्य-बिन्दु तक अनुगमन करने में पूर्ण साफल्य हस्तगत हुआ है :—

★

अशोक महान्

अपनी यशस्व कृतियों के माध्यम से श्री विनोद चन्द्र पाण्डेय, 'विनोद' ने हिन्दी साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है। 12 वर्ष की उम्र से ही माँ भारती के मंदिर को अपने अर्घ्यदान से अलंकृत करने का उनका सतत् अनुष्ठान अब पूर्णता की ओर दिशोन्मुख है। महाकाव्य "अशोक" इस तथ्य का पोषक ही नहीं उद्घोषक भी है।

कवि की वाणी में युगबोध की अन्तर्भावना का तुमुलनाद होता है। यह बात अलग है कि कहीं अभिव्यक्ति नाद का स्वर मुखरित होता है और कहीं व्यंजित। आज की परिस्थितियों में अशोक प्रियदर्शी की प्रासंगिता को सार्थक और स्वस्ति-वाचक मानते हुए संवेदनशील कवि ने उसके चरित्र के माध्यम से आज की समस्याओं का समाधान ढूढ़ने का प्रयास किया है। कवि की लेखनी को इसीलिए जग की रक्षा हेतु अशोक और उसके संदेशों के पुनः आगमन की गुहार लगानी पड़ती है .—

जग की रक्षा करने के हित
तुमको अशोक आना होगा।
अपने पुनीत सन्देशों को
दुहराना, समझाना होगा। (अशोक पृ० 128)

महाकाव्य के रचनोद्देश्य की चर्चा करते हुए भूमिका लेखक विद्वान् श्री रामेश्वर दयाल दूबे ने ठीक ही कहा है कि आज की त्रस्त और दानवीय वृत्तियों से संघर्षरत समाज को बचाने के लिए अशोक महान् सदृश उदारवादी शासक और सदुपदेश सम्बन्धी शासकीय वृत्तियों की नितान्त अपेक्षा है। पुस्तक के अंतिम अध्याय 'आवाह्न' में इसी आशय के संकेत मिलते हैं। एक दो उदाहरण दृष्टव्य हैं—

प्रतिकार तथा प्रतिशोध आज
वीभत्स दृश्य दिखलाते हैं।
आक्रमण, अपहरण के द्वारा
नर व्यर्थ सताये जाते हैं।

× × ×

हो रहे उपद्रव यत्र-तत्र
आतंकवाद फल-फूल रहा।
हिंसा की आग भड़कती है
मानव, मानवता भूल रहा।।

परिणामत:—

पड़ गया आज है संकट में
अस्तित्व स्वयं मानवता का।
नित विकसित होता जाता है
विकराल रूप दानवता का।।

(अशोक पृ० 127)

इसलिए कवि अशोक महान् का आह्वान करता है—

तुम शांति-अहिंसा का प्रदीप
फिर से आकर प्रज्जवलित करो।

× × ×

पथभ्रष्ट भ्रमित मानवता को
सन्मार्ग धर्म का दिखलाओ।।

(अशोक पृ० 129)

महाकाव्य षोडस सर्गों में विभक्त है। प्रथम सर्ग 'आराधना' में मानवता की आराधना है। मानवता को प्रणाम करते हुए कवि मानवता के नैसर्गिक गुणों के संरक्षक अशोक महान् को अपना नायक बनाने का कारण बता देता है—

वह मानवता का प्रेमी था,
मानवता का आराधक था,
मानवता का ही सेवक था,
मानवता व्रत का साधक था।

इसीलिए कवि उसके सात्विक जीवन की गौरव गाथा है। द्वितीय सर्ग में पाटलिपुत्र की सभ्यता तृतीय सर्ग में अशोक की शिक्षा-दीक्षा, चतुर्थ सर्ग अरुणोदय में अशोक की युवावस्था व हृदयकोमलता, पांचवे सर्ग 'आन्दोलन' में अशोक के अग्रज के अनाचार से त्रस्त प्रजा की कारुणिक स्थिति और उससे उत्पन्न विस्फोटक भावना, छठे सर्ग, 'अवसाद' में सम्राट बिन्दुसार के देहावसान और अशोक के सिंहासनारुढ़ होने, सप्तम सर्ग 'अभिषेक' में राजतिलक और सम्राट के सद्विचारों,

आठवें सर्ग 'आकांक्षा' में साम्राज्य प्रसार की भावनेच्छा, नवम् सर्ग 'अभियान' में साम्राज्य विस्तार के लिए युद्धाभियान तथा कलिंग—पराभव, दशम सर्ग 'सनुताप' मे कलिंग गृह से उत्पन्न विभीषिकाओं से उत्पन्न परिताप, एकादश सर्ग 'अभिनन्दन' में कलिंग विजय के बाद सम्राट के स्वागत, द्वादश सर्ग 'अमृतवाणी' में सम्राट् द्वारा शान्ति और धर्म प्रचार, त्रयोदश सर्ग 'आनन्द मंगल' में राज्य में समान अवसर प्राप्त होने के उपलक्ष्य में नागरिकों द्वारा आनन्द मंगल, चतुर्दश सर्ग 'अनुगमन' में सम्राट् के बौद्धाचरण, पंचदश 'अमरत्व में तथागत के संदेश द्वारा अमरता-प्राप्ति और अंतिम अध्याय 'आवाह्‌न' में सद्‌वृत्तियों के पुनरागमन का वर्णन तथा विन्यास है।

ऐतिहासिक कथा की प्रमाणीकृत घटनाओं को आहृत किये बिना कवि ने युगीन समस्याओं के समाधान का बीजमंत्र उसमें से ढूँढ निकाला है। ऐतिहासिक पृष्ठों पर अपने विचारों को सह्‌य रूप में रखना सामान्य मेधा का कार्य नहीं है जो कवि या लेखक इसमें सफल होता है वही ऐतिहासिक साहित्य-सृष्टाओं की श्रेणी मे पंक्तिबद्ध होता है।

अशोक के जीवन पर संकल्पित कई काव्यग्रन्थों का सृजन हुआ है किन्तु आधुनिक समस्याओं के संदर्भ में कथा का युगानुकूल निर्वचन इतना प्रभावकारी ढग से अन्यत्र दुर्लभ है। देखिए—

जलती है घृणा-जुगुप्सा की,
नर के उर में निशिदिन ज्वाला।
पी अहंकार की सुरा मनुज
होता जाता नित मतवाला॥

(अशोक पृ० 125)

× × ×

प्रतिकार तथा प्रतिशोध आज,
वीभत्स दृश्य दिखलाते हैं।
आक्रमण, अपहरण के द्वारा
नर व्यर्थ सताये जाते हैं॥

(अशोक पृ० 126)

अशोक महान् की राजनीतिक अवधारणाओं के परिप्रेक्ष्य में आज के राजनीतिक प्रभुओं को भी कवि उपदिष्ट करता दिखायी देता है—

है सर्वलोक के हित से बढ़
अच्छा कोई कर्त्तव्य नहीं।
राजा के लिए प्रजा-सेवा
से बढ़कर कुछ मन्तव्य नहीं॥ (पृ० 106)

महाकाव्य की अनिवार्य स्वीकृत मान्यताओं का सर्वांशतः अनुपालन करते हुए कवि ने शृंगार, भयानक, करुण, रौद्र, शान्त आदि रसों का इस कृति में सम्यक् ढंग से परिपाक कराया है। कहीं शृंगार का चषक तो कहीं करुण रस की कसक, कहीं भयानक रस का अर्न्तनाद तो कहीं रौद्र का विषाद है।

उज्जैन नगरी के वर्णन में कवि की कुशाग्र लेखनी कालिदास को हल्के ढंग से स्पर्श करती दिखाई देती है—

उज्जयिनी गरिमा की नगरी
नगरी थी शुभ पावनता की।
नगरी थी अमरावती सदृश,
नगरी थी शुचि मानवता की॥ (पृ० 30)

इसी प्रकार पाटलिपुत्र का वर्णन कवि की सूक्ष्मदर्शी दृष्टि का द्योतक है।

कृति के प्रारम्भ में अशोक महान् के जीवनवृत्तों एवं उपलब्धियों का सामासिक शैली में प्रस्तुतीकरण कवि की भाषा दक्षता और अभिव्यक्ति कुशलता का अनुपम निदर्शन है।

समासतः 'अशोक महान्' महाकाव्य विषय—प्रतिपादन, अभिव्यक्ति-नैपुण्य, भाषा—सौष्ठव आदि सभी कलात्मक विशिष्टताओं से संयुत और युगीन अद्यावधिक परिस्थितियों के निदान, समाधान का विशिष्ट साहित्यिक अवदान है। हिन्दी काव्य जगत् को समृद्धतर बनाने की दिशा में कवि का यह प्रयास श्लाघ्य ही नहीं, स्तुत्य भी है।

अनादिगाथा

अनादिगाथा डा० चक्रवर्ती की नवीनतम एवं उत्कृष्टतम काव्यकृति है। इनकी पूर्व काव्यकृति 'अपूर्व पर्व' के पश्चात् 'अनादि गाथा' का प्रणयन, काव्य परम्परा की उस दिव्य एवं लोकोत्तर भावभूमि की ओर हमें ले जाता है जिसे विशुद्ध कवि कर्म की संज्ञा भारतीय मनीषा द्वारा दी गई।

अपूर्व पर्व में द्वादश आदित्यों और उसकी रश्मिप्रिया वसुन्धरा की सम्मोहन गाथा वर्णित है। उसके लोकार्पण के बाद डा० चक्रवर्ती को जिन नैसर्गिक परिस्थितियों ने 'अनादि गाथा' की ओर उन्मुख होने की उत्प्रेरणा प्रदान की उसका संकेत 'आलोक' के अन्तर्गत उन्होंने हलके किन्तु संवेदी स्वर में कर दिया है। 'आलोक' की इन पंक्तियों में 'अनादिगाथा' का मूल स्वर और प्रणेता का प्रस्तुति-परिवेश सन्निविष्ट है। "एक बार उषाकाल में जब आदित्य की अरुणिम रश्मियाँ बाहर वृक्षावलियों के शिखर पर उतर रहीं थीं, तब मैं क्षीणकाय, मरणासन्न स्थिति में भी स्नेह स्निग्ध प्रियम्वदा वसुन्धरा की आनन्दातिरेक विह्वलता को निहार कर आत्म-विभोर हो गया था और तत्काल मुझमें, उस अनुष्टुभ छन्द में प्रणीत सूर्य की कीर्तिगाथा की वैदिक कथा-रूढ़ि के आधार को परिकल्पित करने की प्रेरणा भी उद्भूत हुई थी। सूर्य की अमोघ तापशक्ति से तिमिराच्छन्न और तुषाराच्छादित वसुन्धरा की उर्वरा शक्ति की मुक्ति एक वैज्ञानिक सत्य की गाथा, प्रतीकात्मक कथारूढ़ि-सी लगती है। ···सूर्य की शक्ति साधना और पुरश्चरण नित्य है···महाशीत विरावण से शस्य श्यामला सीता की मुक्ति नित्य है···प्राचिकी यायावर की यह चैत्र फाल्गुन यात्रा और निसर्ग श्री की यह रहस्यमयी हरण उद्धार गाथा रूपकत्व ग्रहण करले तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। अतः वैदिक ऋचाओं मे अन्तर्निहित माधव-माधवी के रस विह्वल ऋतुचक्र की यही सांस्कृतिक कल्प-कथा प्रस्तुत काव्य का प्रतिपाद्य है।"

'आलोक' की उल्लिखित पंक्तियों से स्पष्ट है कि 'अनादि गाथा' में वैदिक ऋचाओं में अन्तर्मुक्त आलोक पुरुष और प्रियम्वदा वसुन्धरा की शाश्वत प्रकृति

कथा को रूपकत्व प्रदान करने का यत्न किया गया है। वसुन्धरा के रूप वैभव को अपावृत करने वाले दुर्मद हिम और तिमिर को अपने शर-संधान द्वारा दमित करते हुए दिवापति, धरती का उद्धार करता रहता है। दिवापति और धरित्री का ऐसा सह-सम्बन्ध आदिकाल से स्थापित है और इनकी यह प्रकृत कथा नित्य और चिरन्तन है। प्रकाश द्वारा तिमिर हरण और किरण द्वारा हिम मर्दन का रूपक ही तो इस अध्यात्म गाथा में अधिरोपित है।

डा० चक्रवर्ती ने सृष्टि-चक्र की इस अनादि गाथा को काव्य सूत्र में पिरोकर वस्तुतः कवि अभिधान को सार्थक किया है। कवि का मूल व्यापक अर्थ ही होता है—इन्द्रियों से अगोचर तत्वों का साक्षात्कार करने वाला व्यक्ति कवयः क्रान्ति-दर्शिनः। ऋषि शब्द का भी अर्थ ऐसा ही है। इसलिए अध्यात्म शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान को कवि कहा गया है। इस अर्थ में 'कवि' शब्द का प्रयोग केवल गीता तथा उपनिषदों में नहीं वरन् संहिताओं में भी उपलब्ध है। "स्वभाव में को कवयो वदन्ति कवयो अप्यत्र मोहिताः तथा संन्यास कवयो विदु." आदि स्थलों मे इसी अर्थ का अनुसरण है। इस प्रकार स्पष्ट है कि अध्यात्म विद्या का वेत्ता पुरुष कवि नाम से अभिहित होता है। वैसे तो स्वयं परमेश्वर भी कवि की पवित्र पदवी से मंडित है। हमारे देश में ऐसे कवि का समादर सदा से होता रहा है और आज भी डा० चक्रवर्ती जैसे कवियों के कारण समादर का वह भाव लेशमात्र भी क्षुण नहीं हुआ है। ऐसे प्रज्ञाप्रौढ़ चिन्तक-प्राध्यापक की इस कालजयी कृति में सृष्टि चक्र की कर्म गाथा विशद रूप से उपन्यस्त है।

ऋग्वेद में सूर्य की महिमा को सर्वोपरि स्थान प्राप्त है। इन्द्र ही सूर्य है जो अपने विपुल बल वैभव एवं अद्भुत पराक्रम का प्रदर्शन करते हुए रश्मि शरसन्धान द्वारा दुष्ट तिमिर और उद्धत तुषार का दलन करता रहता है। उत्तरायण और दक्षिणायन के बीच परिभ्रमण करता हुआ यह शक्ति पीठ समयानुसार वसुन्धरा की वृद्धि में सतत संलग्न रहता है। अथर्ववेद में भी यह आशय है मारुत सदा सूर्य का सहचर रहा है। इसी के प्रयास में मेघ एकत्रित होते हैं जिसका संचालन सूर्य करता है। इसलिए ऋग्वेद में सूर्य मारुत से प्रार्थना करते हुए अनुरोध किया गया है कि वे मंगल विरुद्ध आचरण करने वाले राक्षसों का हनन करे। डा० चक्रवर्ती ने 'आलोक' (प्रस्तावना) में इन तथ्यों का ऋग्वेद तथा अथर्ववेद की ऋचाओं एवं सूक्तों से सप्रमाण समर्थन प्रस्तुत किया है।

वैदिक द्वादश मासों के ऋतुचक्र के विविध रूपों को वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर का रूप प्रदान कर इस मंत्र द्रष्टा कवि-ऋषि ने प्रियम्वदा

वसुन्धरा और दिवाकर की सहसंगी अनुक्रियाओं से उद्भूत परिस्थिति का निरूपण किया है।

मधु-माधव (वसंत ऋतु) काल में भुवन भास्कर की स्निग्ध रश्मियाँ अपनी मधुरिमा से सौन्दर्य की सृष्टि करती है। रोहिणी नक्षत्र यह जानने को आकुल हो उठती है कि मधु-माधव के विभिन्न चरणों में उसे मोहाभिभूत करने वाला कौन है। उत्तर मिलता है उस सूर्य का, जो राम का प्रतीक है—

मैं, मैं तो, / अकुल व्योम का / चिरप्रसन्न आलोकित / अभिलाष हूँ / अस्तित्व अनस्तित्व / शून्य में अंकुरित / अनुराग बिम्ब प्रतीक / अभिराम हूँ। (अनादिगाथा—पृ० २९)

तपःपूत तरुण अरुण (राम) की वीरता देखकर पृथ्वी (सीता) उसे वरण कर उठती है—

अन्तः सत्वा / प्रियम्वदा के / दल-प्रतिदल कंठों से / अनुराग मधु होता / प्रस्फुटित। (अनादिगाथा—पृ० ५३)

नभ-नभस्य (वर्षा) में अरिमर्दन कर अरुण दक्षिणोन्मुख होता है। अभिशप्त शस्य श्री के हिमपात-हरण का यही समय है। दक्षिणायन में सीता का हरण हुआ था।

वर्षाऋतु के रूप में वसुन्धरा की रसोपासना का बिम्बवत वर्णन सृष्टि चक्र के शाश्वत सत्व की गति का उद्भेदन करता है। वर्षाऋतु की नैसर्गिक वृत्ति का मेल इस प्रसंग में द्रष्टव्य है—

खण्ड दृष्टि / भाद्रपद की व्याकुल / मानस-अम्बुधि / उद्वेलित व्यक्ति सत्ता / अश्रुपूरित विश्व की / व्यथित सिद्धि है। (अनादिगाथा—पृ० ६५)

इन सभी स्थितियों के संकेतक स्थल प्रस्तुत है—स्वर्ण हिरण की आकांक्षा में राम के आखेट-गमन पर सीता का हरण हुआ था।

इस अद्भुत / छद्म गति का / रवि करते / आखेट वीरोचित / भूल मृगया भुवन की / भ्रान्ति। (अनादिगाथा—पृ० ६२)

दक्षिणायण का कान्तिहत सूर्य शरद में शक्ति संग्रह के लिए साधना करता है। सीता हरण के पश्चात तपःपूत राम ने भी किया था और सह-सहस्र (हेमन्त) में उसे मारुत और मेघ की समन्वय शक्ति की प्रतीति होती है। हेमन्त को संकल्प

और प्रतिबद्धताओं का प्रतीक माना गया है। अन्ततोगत्वा तप-तपस्या (शिशिर) मे तुषार दैत्य का हनन होता है और शस्यश्री अपने प्रिय अरुण के आलिंगन में बन्ध जाती है।

सहस्य रत्रि प्रभा से / आकर्षित / तपःपूत मारुत है / प्रतिबद्ध / हिम दनुज दलन के लिए। (अनादिगाथा—पृ० १००)

तप तपस्या का / अनुराग गगन / प्रज्वलित करती / अभिषेक निरंजन / ...आलोक मग्न / प्रियम्वदा/मधुमय प्रांगण में / महारास रचती।

(अनादिगाथा—पृ० १२२)

जिस काव्यकृति में वेदों में वर्णित सम्पूर्ण सृष्टिचक्र के विनिधान का नवीनसार संचयित हो उसे प्रस्तुत करने का सामर्थ्य डा० चक्रवर्ती जैसे महामना मनीषी के लिए सम्भव है। 'अनादि गाथा' नये संवेदनात्मक भाव-बोध पर आश्रित मात्र अनुपम, कलात्मक शिल्प-सृष्टि नहीं है, बल्कि कवि की चिन्तन विधि की मिथकीय प्रासंगिकता है, तटस्थ विवेक है, ऐतिहासिक दायित्व है उनकी अवधारणा है कि वाल्मीकि की मंगल चेतना से अनुस्यूत उदात्त रामगाथा की संरचना प्रतीकात्मक वैदिक आख्यान का 'मानवीकरण' है

लौकिक न्यायानुशीलन

'लोक' और 'न्याय'—इन दो शब्दों से लौकिक न्याय बना है। लोक का अर्थ होता है—दृश्य। यह दर्शने धातु से बना है किन्तु कोश में यह मानव-समुदाय के अर्थ में रूढ़ है। न्याय का अर्थ है—नियम के साथ समर्थन। लोक जो देखे या अनुभव करे उस आधार पर बनी नीति "लौकिक न्याय" हुआ। जैसे लोक मे देखा गया कि घुणों द्वारा काठ को इस तरह काट दिया गया कि कभी-कभी कुछ अक्षर बन गये तो उसे 'घुणाक्षर न्याय' माना गया। इसी प्रकार पैर में काँटा गड़ जाने पर दूसरे काँटे से ही निकलता है अतः उसे 'कंटककंटकेनैव न्याय' कहा गया। इन न्यायों की परम्परा अनन्त काल से चली आ रही है। वैदिक ग्रन्थों से लेकर सस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी तथा अन्य भाषाओं में भी इन न्यायों का प्रयोग जाने-अनजाने प्रवाहित होता रहा है। साहित्य से लेकर लोक व्यवहार तक आज भी यह परम्परा प्रचलित है। साहित्य और वाणी के वैचित्र्य को बनाने मे इनका प्रयोग स्वयं सिद्ध है। ये न्याय बूँद में समुद्र को समाहित करने का कार्य करते हैं जिससे व्यक्ति की अभिव्यक्ति की तीव्रता बढ़ जाती है। डॉ० शिववंश पाण्डेय का "लौकिक न्यायानुशीलन" लौकिक न्यायों के सभी पक्षों को उजागर करता है। यह हिन्दी का प्रथम ग्रन्थ है जो अपने ढंग का विवेचन करता है।

डॉ० पाण्डेय ने विद्वानों से कथित एवं कोश ग्रन्थों में व्यवहृत न्यायों की अनेक परिभाषाओं को उद्धृत करते हुए अपनी परिभाषा इस प्रकार दी है—"किसी घटना-विवेचन से उद्भुत निष्कर्ष को न्याय कहते हैं। लोक और न्याय दोनों के अर्थ-विश्लेषण से स्पष्ट है कि लौकिक न्याय शाश्वत-तत्त्वों पर आधारित एक सर्वजनीन एवं सार्वभौमिक सिद्धान्त वाक्य है जो आप्तवाक्य सदृश मानव-जीवन में प्रयुक्त होता है। यह बहुत हद तक "कहावतों की तरह लोकप्रिय, प्रभावोत्पादक, सारगर्भित एवं संक्षिप्त होता है।"

इस परिभाषा के अनुसार सादृश्यात्मक प्रसंग में जैसा देवता वैसी पूजा या शठे शाठ्यं समाचरेत् कहावतें बनी, जो लोकानुभूत शाश्वत् सत्य एवं सार्वभौमिक

है। प्रस्तुत शोध ग्रन्थ लोक-जीवन, शास्त्र-ज्ञान, साहित्य, समाज तथा मानव भावों को परिमार्जित करने में अत्यन्त उपयोगी है इसमें समाज एवं परम्परा दोनों का समन्वय है। व्याकरण शास्त्र की शब्द-साधना में भी इन न्यायों का प्रयोग हुआ है। ये न्याय लौकिक जीवन से अनुभूत होते हैं। ये लोकोक्ति, सूक्ति एवं नीति परक होते हुए भी अपनी पृथक् गरिमा रखते हैं। सूक्ष्मेक्षिक होते हैं और व्यक्ति तथा समाज की अनुभूति लिये रहते हैं।

इनका पौराणिक, लौकिक और काल्पनिक घटना का अपना आधार होता है, फिर भी ये सर्वजनीनता तथा चुटीलेपन से भरे होते हैं। इसी से विद्वानों और गंवारों के मुख से भी ये अनायास वाग्वैदग्ध्य प्रकट कर देते हैं। ये न्याय अपनी व्यंजना, व्यापकता एवं उपयोगिता की दृष्टि से लोकोक्तियों को पीछे छोड़ देते है और श्रोता के मस्तिष्क को सितार की तरह झनझनाकर तथा विद्युत की तरह कौंधकर वैचित्र्योक्ति-बोध का एक अद्‌भुत सरगम भर देते हैं। इनका गठन लोक ने वर्षों-वर्षों की सार्वभौमिक अनुभूतियों के आधार पर युग-युगादि में किया, जो आज तक प्रवाहित होता आया है और आगे भी प्रवाहित होता रहेगा। इसी आधार पर इस शोध-ग्रंथ की भूमिका में भाषा शास्त्र के मान्य विद्वान डॉ० भोलानाथ तिवारी लिखते हैं, "लोक-प्रतिमा अद्‌भुत है। प्रारंभ में उसने लोक-काव्य और लोक-कथा बनाई। उसी के सूक्त्यात्मक कथन ने लोकोक्तियों का रूप लिया। उसी लोक को "लौकिक न्यायों", के गठन तथा विकास का भी श्रेय प्राप्त है। बाद मे लोक से ही लेकर वैदिक "संहिताओं", ब्राह्मण ग्रंथों, उपनिषदों, पुराणों तथा अन्य शास्त्रों में अधिकाधिक इनके प्रयोग मिलते हैं।" किंतु मेरे विचार से यह कहना ठीक नहीं है कि लौकिक न्यायों से पहले लोक-काव्य या लोक-कथाओं एवं सूक्तियो का सृजन हुआ। "गड्डुलिका-प्रवाह न्याय, खलेकपोत न्याय, कुंजर स्नान न्याय, कंटक न्याय तथा जलतुम्बी न्याय" को मानव ने उस समय देखा तथा अनुभव किया होगा, जब उसने विद्या-साहित्य, काव्य और कथा-सृजन की ज्ञानशक्ति का शऊर भी हासिल नहीं किया होगा", किंतु भेड़ियाधसान, खलिहान में कबूतरों का एक साथ उतरना और उड़ना, हाथियों का जल स्नान के बाद रजस्नान तथा जल मे तुम्बी को उतराते हुए होश संभालते ही देखा होगा। इसीलिए तो लोक-दृष्टि एवं लोकानुभव से हमारे तर्कशास्त्र, व्याकरण तथा तंत्रशास्त्र भी अलग नही हो सके। इसीलिए हमारे सम्पूर्ण वाङ्मय के सर्वविध साहित्य लौकिक न्यायों के बाग में पल्लवित एवं पुष्पित होते रहे हैं, और आगे भी होते रहेंगे।

डॉ० पांडेय ने अपने शोध के लिए ऐसे 383 लौकिक न्यायों का चयन इस ग्रंथ में किया है, जब कि इस विषय पर उन्हें कोई पुस्तक प्राप्त नहीं हो सकी।

जी० ए० जैकब नामक विदेशी विद्वान ने सन् 1900 ई० में ही 468 लौकिक न्यायों का संग्रह "लौकिक न्याय कुसुमांजलि" नामक अपनी पुस्तक से प्रकाशित किया था और मराठी विद्वान वामनाचार्य झलकीकर ने तो उक्त पुस्तक के पहले ही सन् 1877 ई० में 900 लौकिक न्यायों का एक कोश ग्रंथ तैयार कर दिया था।

अनुसंधित्सु ने सोपानारोहण न्याय, मधुमक्षिका न्याय तथा कुचस्विगणन न्याय को सार्थक किया है तथा अपनी पूरी मंजिल तय की है। इस शोध-ग्रंथ मे मानव की सहज प्रवृत्तियों, कार्यों तथा मानव जीवन-जगत के मूल्यों, आदर्शों, तत्वों एवं अनुभूतियों का अनेक विध प्रस्तुतीकरण हुआ है। मानव-सहयोग, सद्भाव, विधि-निषेध को भी सम्मिलित करके लौकिक न्यायों की सर्वविध व्यापकता दर्शाई गई है। इसी प्रकार ग्रंथ में लोक-व्यवहार, आचार तथा नैतिक तथ्यों का भी चतुर्दिक प्रसार दिखलाया गया है।

फिर डॉ० पांडेय स्लैंग और लौकिक न्याय का परस्पर तुलनात्मक विवेचन करते हुए पुस्तक के पृ 132-133 पर लिखते हैं—"जैसा मुंह वैसा थप्पड़" स्लैंग का पर्याय है, यादृशी शीतला देवी तादृशी खरवाहिनी या जैसा पाहुन तैसी पूजा, जैसी करनी तैसी भरनी आदि निश्चय ही स्लैंग के अर्थ में व्यवहृत हुए हैं तथा और भी कुछ लोक-प्रचलित न्याय स्लैंग पर आधारित हैं, किंतु लौकिक न्याय और स्लैंग में पर्याप्त अंतर है। वे आगे अपने इस कथन को स्पष्ट करते हुए फिर लिखते हैं: "लौकिक न्याय शिष्टजनों की सामान्य भाषा है और स्लैंग-विशिष्ट वर्ग समूह की निजी भाषा। लौकिक भावों का साधारणीकरण दोनों का उद्देश्य है, लेकिन लौकिक न्यायों में जहाँ भावों का सर्वजनीन साधारणीकरण होता है, वहाँ स्लैंग का साधारणीकरण एक विशिष्ट समूह में तथा एक संदर्भ में ही देखा जा सकता है। स्लैंग शिष्ट भाषा को समृद्ध बनाता है और लौकिक न्याय शिष्ट भाषा को चमत्कारपूर्ण एवं आकर्षक बनाता है।" इसके आगे डॉ० पांडेय ने दोनों में जो महत्त्वपूर्ण अंतर बतलाया है, इसका काव्यमयी भाषा में प्रतिपादन इस तरह करते है—"लौकिक न्याय आर्यकाव्य एवं आप्तवाक्य है और स्लैंग अनार्थ। लौकिक न्याय वह कुलकन्या है, जो ग्राम में जन्मी, नगर में ब्याही गई और सभ्यजनों मे अपने सदाचरण तथा शील-स्वभाव से समादृत हुई है। इधर स्लैंग ग्रामीण परिवेश से ही अपना सम्पूर्ण जीवन बिता देने वाली वह स्वैरिणी नारी है, जो अपने आचरण मे यथोचित सुधार लाकर ही लौकिक न्याय रूपी सुशीला कन्या का स्थान प्राप्त करने के लिए उद्योगिनी है।" इस प्रकार स्लैंग की तरह ही डॉ० पांडेय ने कहावत, मुहावरा, लोकोक्ति, सूक्ति, पहेली, ध्वनि, सूत्र, व्यंग्योक्ति, वक्रोक्ति से तुलनात्मक

विवेचन करते हुए इन सम्पूर्ण विषयों से लौकिक न्यायों का महत्व अलग बतल ते हुए उनकी विशेषता एवं उपयोगिता का प्रतिपादन किया है। ग्रंथ में जहाँ डॉ॰ पांडेय की असाधारण बौद्धिक विच्छति तथा ज्ञान कुशलता दीख पड़ती है, वही उक्त प्रसंगों में उनकी काव्यमयी सरस एवं हृदयग्राही भाषा ने शोधग्रंथ को आद्यात रस युक्त, ग्राह्य एवं पठनीय बना दिया है।

इस ग्रंथ का प्रत्येक अध्याय एक नई दिशा तथा नई चेतना का बोध कराना है। प्रथम अध्याय में मौलिक न्यायों की विशेषता, शोध-कार्य का सर्वेक्षण, उपलब्धि एव अभाव की चर्चा है। इसके साथ ही इसी अध्याय में न्याय का महत्व' और इनके संचयन के स्रोतों पर भी प्रकाश डाला गया है। द्वितीय अध्याय में लौकिक न्याय की परिभाषा तथा स्वरूप का प्रतिपादन है तथा इन न्यायों की तत्सम विधाओं के साम्य-वैषम्य का विश्लेषण किया गया है। इसी अध्याय में काव्य की अनेक चमत्कारिक विच्छितियों से लौकिक न्याय का तुलनात्मक अध्ययन तथा वैशिष्ट्य का पांडित्यपूर्ण विवेचन प्रस्तुत हुआ है। फिर, तीसरे अध्याय में लौकिक न्यायो की प्रयोग परंपरा एवं संदर्भ स्रोतों का विस्तार से अध्ययन प्रस्तुत है। चौथे अध्याय मे लौकिक न्यायों की विशेषता तथा उपजीव्यता के अनुसार शोधकर्त्ता ने मानव वर्गीय लौकिक न्याय तथा मानवेतर वर्गीय लौकिक न्याय दर्शाते हुए इन्हें दो भागो मे बांटा है। फिर मानव वर्गीय लौकिक न्यायों को आठ श्रेणियों में विभाजित किया है और मानवेतर वर्गीय न्यायो के 11 भेद बतलाए हैं। इन संग्रहीत न्यायो मे लोक की सभी वस्तुएँ समाहित हो जाती है। यह अध्याय शोध ग्रथ का मौलिक चिंतन है, जो लोक से लेकर अध्यात्मक तक को घेर कर अपना परिवेश दर्शाते हैं।

ग्रंथ के पाँचवें अध्याय में लौकिक न्यायों के स्वरूप के निर्धारण में कार्य कारण भाव एवं बिब-प्रतिबिंब भावों का प्रस्तुतीकरण है और इसी अध्याय में इन न्यायों के भाषा-वैज्ञानिक आधार का विवेचन भी विद्वान शोध-कर्त्ता ने किया है। छठे अध्याय में लोक-कथाओं में लौकिक न्यायों के प्रच्छन्न रूप से समावेशन का अध्ययन है और लोक कथाओं में आई अंतः कथाओं का मूल्यांकन और इनकी परंपराओं की भी विशद विवेचना है। फिर अंतिम सातवें अध्याय में लौकिक न्यायों के महत्व एवं गरिमा तथा इनकी सर्वविध उपयोगिता पर भरपूर प्रकाश डाला गया है। ग्रंथ के अंत में उन सभी न्यायों की एक सूची दी गई है, जिनका व्यवहार इस शोध ग्रंथ मे किया गया है। इस प्रकार समीक्षात्मक विचार समाप्त करने के पूर्व लेखक की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करना आवश्यक है जो गागर में सागर समेटे है। देखिए :—

"लौकिक न्यायों का रूप विन्यास और साज-सज्जा भी मानवाकृति की विविधता लिए हुए हैं। कहीं शब्दालंकार की सजावट, तो कहीं वक्रोक्ति की विदग्धता, कहीं स्वानाबोधित का सहज चमत्कार, तो कहीं व्यग्यार्थ की दूरान्वित विदग्धता है। स्वकुचमर्दन न्याय के शृंगारात्मक आलंवन से लेकर जलूका न्याय के जुगुप्सात्मक आवलबन तक इनमें देखे जा सकते हैं। मर्कट मदिरापानादि न्याय, वृश्चिकीगर्भ न्याय, वन-व्याघ्र न्याय, दर्पण प्रतिबिंब न्याय, नववंध व्यसहृयवेदना न्याय, बालि-सुग्रीव न्याय, तरगाडाकिनी न्याय, तप्तपरशु ग्रहण न्याय, क्रमशः हास्य, बीभत्स, अद्भुत शांत, करुण, वीर, रौद्र तथा भयानक रसों के उदाहरण में आते हैं। स्वकुचमर्दन तथा वधूकुलटा-मंत्री न्याम रसराज शृंगार के अवबोधक हैं। इसी प्रकार, ओज, प्रसाद और माधुर्य गुणों की स्वाभाविक अन्विति भी इन न्यायों में दिग्दर्शनीय है।" "इनमें लोकोक्ति की लोकप्रियता एवं सर्वजनीनता, मुहावरों के चमत्कार एवं विदग्धता, कहावतों की सरलता, नीति वाक्यो की उपदेशात्मकता, सूत्रों की सामासिकता, गुप्तभाषा की गोपनीयता, किंवदंतियों की प्राचीनता, चित्रकाव्यों की चित्रमयता, स्लैंग की ग्राम्यता, गूढ़ोक्ति की निगूढ़ता, कूट वाक्यों की रहस्यमयता, संकेत भाषा की प्रतिकात्मकता, सूक्ष्मोक्ति का लाघव, उदाहरण की सदृशता, दृष्टांत की रूपात्मकता, सूक्तियों की प्रबुद्ध तथा सुभाषितों की मगलमयता आदि के समन्वित रूपों का दर्शन होता है।

तरुण काव्य ग्रंथावली

तरुण काव्य ग्रंथावली कविवर डा० रामेश्वर लाल खंडेलवाल 'तरुण' की 1989 तक प्रकाशित काव्य-संग्रहों का संकलन है। 1989 तक कवि तरुण के चार काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके थे—प्रथम किरण, हिमांचला, आँधी और चाँदनी तथा हम शिल्पी संत्रास के। उनके कवि रूप को समग्र रूप में प्रकाशित कर प्रकाशक ने निश्चय ही कवि 'तरुण' के काव्य वैभव को जिज्ञासु पाठकों के लिए हस्तामलकवत् बनाने का श्लाघनीय कार्य किया है। ग्रथावली के प्रधान संपादक एवं प्रख्यात विद्वान डॉ० विजयेन्द्र स्नातक ने अपनी 28 पृष्ठीय भूमिका में डा० तरुण की कविताओं के अन्तर्भाव को रेखांकित करते हुए उनकी काव्य यात्रा के हर पड़ाव का सूक्ष्मेक्षण जिस प्रकार किया है उससे कवि तरुण को जानने-समझने में पाठको को पर्याप्त सुकरता होगी। ग्रंथावली के संपादक-मंडल में डा० स्नातक के अलावे प्रो० रामेश्वर शुल्क 'अंचल' तथा डा० कुमार विमल जैसे अधीत बिद्वानों का होना ही कवि तरुण और 'ग्रंथावली' के महत्त्व का परिचायक है।

चारों काव्य संग्रहों की कविताओं को ग्रंथावली में विन्यस्त करने का क्रम इस प्रकार रहा है—(1) युगबोध और युग संत्रास से संबंधित कविताएँ, (2) विद्रोह तथा आक्रोश से सम्बद्ध कविताएँ, (3) व्यंग्य और विसंगति सूचक कविताएँ, (4) जीवन सत्य सम्बन्धी कविताएँ, (5) प्राण ज्योति और जीवनोल्लास द्योतक कविताएँ, (6) जीवन मूल्य और सस्कृति बोध परक कविताएँ, (7) जीवन-चिन्ता परक कविताएँ, (8) कला बोध दायिनी कविताएँ, (9) आस्था बोध सूचक कविताएँ, (10) धरती की गंध : धूल भरे रास्ते, (11) भक्ति, प्रणति, वन्दन-अर्चन, (12) रहस्य, साधना और अध्यात्म संबंधित रचनाएँ, (13) मनोराज्य : मुक्ति के सुनहले पंखों पर, (14) प्रणय-रोमांच : चहकें, महकें, (15) स्मृति-रेखा : लहरदार धूम्र पटलियाँ, (16) आयुचरण : शैशव और कौमार, (17) राष्ट्र : इतिहास : संस्कृति, (18) मुक्तक।

ग्रंथावली के उत्तर खंड में संकलित कविताओं का क्रम-विन्यास इस प्रकार हुआ है—(1) सौधे आंगन : पाँव की छापें (1930-1950), (2) दुपहरिया के फूल (1950 से 1974), (3) पहाड़ी सांध्य रागिनी (1975 से 1988)।

ग्रंथावली में सम्माविष्ट कुल 426 कविताएँ, कविवर 'तरुण' के विगत 55 वर्षों (1933-1988) की काव्यात्मक उपलब्धियों की निदर्शनात्मक अभिव्यक्ति हैं। इसलिए इनमें तरुण हृदय का चुहलपन, युवावस्था की उमग, प्रौढ़ावस्था की कर्कशता और विक्षोभ एवं वृद्धावस्था के ज्ञान संभूत निष्कर्ष सभी अपने-अपने तेवर के साथ विद्यमान हैं।

प्रधान संपादक के अनुसार ग्रंथावली में "युगबोध और युग संत्रास" से सम्बंधित कविताओं को सबसे पहले स्थान दिया गया है। इस वर्ग में रखी गई कविताओं की संख्या 35 है। इन सभी कविताओं में युगीन संत्रास से समुद्भूत पीडाओं में उलझे विवश इन्सान की करुण आत्माभिव्यक्ति और छटपटाहट के दर्शन होते हैं। मनुष्य अपनी नियति के हाथों का क्रीड़ा-कन्दुक बना अपनी अस्मिता के संरक्षण में जी-जान से लगा हुआ है। 'गिरवी', 'धोखा हुआ', 'सूरज था कभी' 'मैं गा न सकूँगा', 'बैठूँ मैं—किस मुद्रा में', 'खूनी पुल पर से होकर', 'लोक-सेवा' आदि कविताओं में ऐसी ही मानवीय अन्तर्व्यथा का संचयन हुआ है।

'विद्रोह और आक्रोश' नाम-वर्ग से संकलित प्रायः सभी छह कविताओं में कवि की तलखी, उच्छवास एवं नव-निर्माण की कल्पना के स्वर संचयित हैं। कवि को जहाँ एक ओर संघर्षमय जीवन प्रिय है वहीं दूसरी ओर कृत्रिम परिवेश से असम्पृक्त रहकर स्वच्छंद वातावरण में विचरण करने की बलवती इच्छा भी है। 'मैं बनवासी होता' कविता में कवि की एतद् विषयक अवधारणा मुखरित है। एक उदाहरण—

जीवन होता यों, कि किसी ने सुना, न अब तक देखा,
मेरा होता राज, जहाँ तक खिची क्षितिज की रेखा !
घने जंगलों में जाता सिर पर रखकर बोझा,
बैठ बजाता मैं झरनों के तीर कहीं अलगोजा;
डाल तरकशी चट्टानों पर, कहीं पड़ा मैं सोता;
मैं बनवासी होता ! (पृ० 42)

'व्यंग्य और विसंगति' से संबंधित कुल अठारह कविताओं में आज के युग मे व्याप्त विसंगति, विद्रूपता के प्रति कवि की व्यंग्यात्मक दृष्टि का विकीर्णन हुआ है समाज में मुखौटा पहने लोगों की काली करतूतों के प्रति कवि के व्यंग्य बाणों में सर्वत्र आक्रामक तेवर के दर्शन होते हैं। आज भ्रष्टाचार रूपी दैत्य अपने विकराल जबड़े मे हमारे सारे सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों को चकनाचूर करने के लिए तैयार बैठा है और निरीह जनता क्षुब्ध होकर भी विवशता की स्थिति में जकड़ी हु

है। 'साँप : आवास समस्या' तथा 'कलई' शीर्षक कविता में व्यंग्य के माध्यम से लोगों को बेनकाब करने का प्रयास किया गया है। 'कुर्सी', देश सेवक 'नाखून भाँत-भाँत के' कविताओं में भी यथार्थ को व्यंग्य के तराजू पर चढ़ाकर उसका ठीक वजन दिखाने का अभिनव प्रयास हुआ है। एक बानगी देखें--

सेहरे बाँधना, तिलक लगाना
यह कोई आसक्ति नहीं
यह तो मात्र नियुक्ति है---
ऊँची जन - कुर्सी पर।

तिलक, चेहरे और आईना (पृ० 48)

"जीवन-सत्व" नाम से वर्गीकृत कविताओं की संख्या 15 है। कवि तरुण की जीवन दर्शन सम्बन्धी मान्यताएँ इन कविताओं में अन्तर्भुक्त है। जीवन के द्वन्द्व और संघर्ष झेलने और सहने में उनकी पूरी आस्था है। त्रिपदाओं से जूझने का संघर्ष, संत्रास और पीड़ा को भोगने का सुख, कष्ट पर बाधाओं पर विजय पाने का साहस, दहकते-अंगार और महकते कचनार समान भाव से स्वीकारने की प्रेरणा कवि का दिव्य संदेश है।" एक उदाहरण ही अलं होगा—

जिसने पीड़ा का दान दिया,
नित जलने का बरदान दिया
× × ×
पीने को दी विष की प्याली
खाने को इन्द्रायण - डाली
× × ×
जिसने भावों के बोल दिये
ये गीत मुझे अनमोल दिए,
मेरे अन्तर पर खोल दिए,
उसकी जय हो, उसकी जय हो।

(उसकी जय हो पृ० 59)

'याचना', 'प्रकार', 'उपचार' आदि कविताओं में भी इसी आशय के अन्तर्भाव सन्निहित हैं।

'प्राण-ज्योति और जीवनोल्लास' से संबंधित सभी बीस कविताओं में संघर्षों से जूझते हुए निर्धारित पथ पर बढ़ते रहने का संदेश दिया गया है। अवसाद और निराशा के अंधकार से निकालकर आशा की चाँदनी में मग्न हृदय को नहलाने का कवि-प्रयास वस्तुतः स्तुत्य है। 'लौह पुरुष तू रोता क्यों है', 'माँझी साहस छोड़ न

देना', 'पंछी पिंजड़े के तोड़ द्वार' तथा 'जाग, मेरे जीवन की आग' में ऐसे ही प्रेरक स्वरों का निनाद हुआ है। एक उदाहरण—

माँग में भरकर तू भरपूर—
अरुण निज लपटों का सिन्दूर,
अभागिन मेरे मन की दीन व्यथा को दे-दे अमर सुहाग।

जाग, मेरे जीवन की आग (पृ० 85)

'जीवन मूल्य और संस्कृति बोध' शीर्ष के अन्तर्गत प्रस्तुत 13 कविताओं में कवि तरुण का चिन्तन झलकता है। 'हृदय का मूल्य' कविता में चार उदाहरणों द्वारा हृदय का मूल्य परखने, 'आत्मकथा' कविता में असहाय दशा का चित्र अंकित करने और 'सभी का है' कविता में प्रजातांत्रिक विश्वास को प्रगट करने का सफल प्रयास हुआ है। 'अँधेरा' नामक कविता में कवि के चिन्तन-आयाम का विस्तार अवलोकनीय है—

संसार का सारा निठुर वैषम्य
राग और विराग के ग्रंथिल समस्त विरोध
जय-पराजय के करुणतम क्लिष्ट खड्ग-निनाद—
हास-रोदन की करुण टकराहटों में से निकलती कौंध—
इस तिमिर के गुदगुदे सुकुमार गद्दे पर सभी आ सो गये हैं,
नींद में डूबे, बिना माँ के थके बच्चों सरीखे,

भूल अपनी पीर! (पृ० 102)

'जीवन-चिन्ता' शीर्ष में कुल 51 कविताएँ संगृहीत हैं। विज्ञान के बढ़ते चरण ने भौतिक सुख-साधनों का विस्तार करके मनुष्य को सुख पहुँचाने का काम तो किया है किन्तु मानसिक शान्ति नहीं प्रदान कर सके है। "आधुनिक युग के वैज्ञानिक आविष्कार विस्मयजनक चमत्कार बन गए हैं, किन्तु इस विस्मय की समाप्ति वहाँ हो जाती है जहाँ कृत्रिम सभ्यता अपना केंचुल उतारकर अपने विकराल रूप में उजागर होती है। कवि ने इस यथार्थ को देखा है और उसको पूरी व्यंजना के साथ व्यक्त किया है। आविष्कारों का निर्देश करते हुए कवि कहता है—

हिम गिरि का मस्तक फोड़ दिया अभियानों से
दी छील समुद्रों की छाती जलयानों से,
दी बाँध बल्ब में ज्योति सूर्य, शशि, तारों की—
रे, धन्य मनुज की बुद्धि, बुद्धि का चमत्कार।

× × ×

सिन्दूर का जख्म

साहित्य-साधना में एकांत भाव से सर्वात्मना समर्पित कतिपय अंगुलिगण्य लोगों में वरेण्य पुण्यलोक हिमांशु श्रीवास्तव प्रथम कोटि के कथाकार होने का यश अपनी महार्घ कथाकृतियों द्वारा प्राप्त कर चुके हैं। रेडियो नाटक एवं हिन्दी कहानी के क्षेत्र में भी उन्हें अमित यश और गौरव मिल चुका है किन्तु उपन्यास की विधा को उन्होंने जो गति और शैली दी है वह निर्विवादतः उन्हें अनन्यता की मानोपाधि से अलंकृत कर देती है। इनके सशक्त दशाधिक उपन्यासों को देखने के बाद तो हिन्दी आलोचना-जगत् में प्रेमचंद-परंपरा के प्रबल हस्ताक्षर के रूप मे इनका जय गान होने लगा है। वरिष्ठ समालोचकों की कलम भी इन्हें प्रेमचन्द की पूर्ण समकक्षता को तो नहीं किन्तु प्रेमचंद की पूर्ण सन्निकटता की जयमाला पहनाने लगी है।

जिस प्रकार प्रेमचंद के प्रारंभिक उपन्यासों में प्रेमचंद का विकासोन्मुख तेवर प्रस्फुटित हुआ है उसी प्रकार हिमांशु श्रीवास्तव के प्रारंभिक उपन्यासों मे भी उनके मानसिक व्यायाम से निकले तथा सूक्ष्म चिन्तन से पसरे बिचार-स्फुलिंग अपने मूल रूप में अवतरित हुए हैं। "सिन्दूर का जख्म" हिमांशु श्रीवास्तव का एक ऐसा उपन्यास है जिसमें उनके उभरते एवं चढ़ते क्रान्ति-प्रवाह का गर्जन-तर्जन एक साथ देखा जा सकता है। विचार-प्रवाह की सरणि में भाषा की नाव भी कहीं भँवर में पड़ती नहीं दिखाई देती है। विचार-मन्थन एवं अभिव्यक्ति का ऐसा सुसतुलन शायद प्रेमचंद के सिवा किसी अन्य कथाकार में नहीं दिखाई देता।

"सिन्दूर का जख्म" उपन्यास 1957 में राष्ट्रीय प्रकाशन मंदिर, लखनऊ से प्रकाशित हुआ था। इसके पूर्व जैनेन्द्र "सुनीता", "परख", विवर्त के माध्यम से यौन-क्रान्ति का बीज डाल चुके थे। "शेखर एक जीवनी" द्वारा अज्ञेय और 'घेरे के बाहर' तथा "नीरजा" द्वारा द्वारिका प्रसाद सिंह नारी-मनोविज्ञान के गहन गह्वर में प्रवेश करने का मार्ग सीधा कर रहे थे। ऐतिहासिक और पौराणिक आख्यानों को तोड़-मरोड़कर आधुनिकता के नाम पर नग्नता और प्रगतिशीलता के नाम पर पाशविकता का प्रदर्शन होने लगा था। ऐसा लगता था कि प्रबुद्ध वर्ग समाज के यथार्थ को खुली आँख से देखने का साहस गँवा बैठा था और इतिहास के पन्नों में सिमटकर अपनी हीनता को छिपाने का अच्छा स्वांग कर रहा था। ऐसे संक्रमणकाल में समाज को खुली आँख से देखने वाले और उसमें अन्तर्व्याप्त बुराईयों को दुत्कारने वाले खोजी कथाकारों का अभाव होना स्वाभाविक था।

इसलिए ही छठ दशक के बाद सामाजिक उपन्यासों के दुर्भिक्ष सी स्थिति हो गई थी।

हिमांशु श्रीवास्तव आद्यन्त अपनी कथा-कृतियों में समाज से ही जुड़े रहे। समाज ने उन्हें जिन्दगी दी, समाज ने उन्हें प्रताड़ित किया, समाज ने उन्हें तिरस्कृत किया, समाज ने उन्हें संघर्ष करने की प्रेरणा तथा परिस्थितियों से जूझने की ऊर्जा प्रदान की। उन्होंने मानवीय धर्म का निर्वाह करते हुए अज्ञान और आडम्बर के घटाटोप बवंडर को रोकने का तो नहीं किन्तु विपत्तिग्रस्त लोगों को उससे बचने का सुगम रास्ता तो अवश्य दिखा दिया।

भारतीय परिवार की जानी-पहचानी घटनाओं पर आधृत यह उपन्यास सामाजिक विषमताओं और विद्रूपताओं पर कठोर प्रहार करता है। सिन्दूर भारतीय नारी का ताज और शृंगार है किन्तु इस ताज का मूल्य चुकाना होता है विभिन्न रूपों में—सम्पत्ति-स्वाहा कर या आत्मप्रतिष्ठा खोकर या जान गँवाकर।

दहेज-दानव से त्रस्त पिता की बेटी के सामने सिंदूर का लाल रंग एक लाल प्रश्न चिह्न बन जाता है और दहेज-दैत्य की लपलपाती लाल जीभ उसकी सम्पूर्ण अस्मिता को निगल जाती है। उपन्यास के प्रमुख पात्र मनोज की सर्वरूपगुण सम्पन्ना बहन पुष्पा को सरयू शरण वकील जैसे दहेज लोभी नर-दानव की अर्थ-लिप्सा के कारण कुमारी रहते ही वैधव्य की पीड़ा जीवन पर्यन्त झेलनी पड़ती है। उपन्यासकार के शब्दों में—"मनोज को इस निष्ठुर समाज पर क्रोध आ रहा था जिसकी कुप्रथाओं के कारण पुष्पा जैसी सैकड़ों बहनों को कुमारी रहते ही वैधव्य की पीड़ा सहनी पड़ती है।" (पृ०-22)

दहेज की मोटी रकम नहीं जुटा पाने के कारण पुष्पा शरयूशरण की बहू नहीं बन पाती और युवावस्था के वेग को नहीं सम्हाल पाने के कारण वह पड़ोसी युवक प्रकाश के प्रेमपाश में फँसकर गर्भवती हो जाती है। अपनी माँ सविता, भाई मनोज, बहन देवरानी और मंजु को सामाजिक अभित्रास से बचाने के लिए उसे जब कोई रास्ता नहीं मिलता तो घर से भागकर कोठे की शरण लेती है। इस संदर्भ में कथाकार की यह यथार्थोक्ति द्रष्टव्य है—"औरत पर जब जवानी चढती है तो समाज के भय से वह अपने को संभाल भी लेती है मगर जब उसकी जवानी को जवानी चढ़ती है तो इलाज मुश्किल हो जाता है।" (पृ०-43)

दहेज की समस्या के अतिरिक्त कथाकार ने बेमेल विवाह और नारियों द्वारा ओढ़ी गई कृत्रिम आधुनिकता से संबंधित संत्रासों पर भी कटाक्ष किया है। इस क्रम में लालची घटकों के दुष्कर्मों पर भी व्यंग्य करने से लेखक बाज नहीं आता।

एक आदर्श शिक्षक पारस बाबू की सुशीला पुत्री शान्ति का विवाह पर्याप्त दहेज नहीं जुटा पाने और सुदामा पाठक जैसे स्वार्थी एवं धनलोलुप दगाबाज घटक की गलतबयानी के कारण एक-दो आह मुख्तार से हो जाता है। आयु विषमता जन्य विवशताओं और प्रेमकली, राधा जैसी ईर्ष्यालु देवरानियों के द्वेष-कलह के कारण शान्ति का जीवन नरक बन जाता है। कथाकार ने राधा प्रेमकली जैसी नारियो को इंगित करते हुए ही कहा है—"औरतें चाहे जो करा दें। जो पुरुष इनके हाव-भाव और कटाक्ष से घायल नहीं हो जाता वह पूज्य एवं धन्य कहलाने योग्य है।"

(पृ०-30-31)

पति को स्वामी के बदले सेवक और सरताज के बदले गुलाम बनाए रखने की प्रवृति नारी-आधुनिकता की अन्यतम विशिष्टता मानी जाती है। मंजु सदृश मनोज जैसे किरानी के सामान्य परिवेश में पलने वाली निरीह नारी तो पति को ही परमेश्वर मानती थी। इसी कारण आधुनिकता का चोंगा पहने आधुनिक वनिताएँ उसका उपहास और अपहास करती थी। कथाकार के शब्दों में—"भला उस भोली मंजू को क्या मालूम था कि आधुनिक विवाहिताएँ अपने स्वामी को पालतू पति बनाकर रखना चाहती हैं।" (पृ० 20)

कथा संयोजन एवं परिस्थिति-परीक्षण में प्रेमचंद एवं नारी मनोविज्ञान विश्लेषण में शरत्चन्द की प्रखर कारयत्री प्रतिभा एवं कुशल शिल्प से समन्वित हिमांशु श्रीवास्तव का साहित्यिक सौष्ठव अपनी एक अलग पहचान बना चुका है। प्रेमचंद को यदि एवरेस्ट की ऊँचाई पर रखा जाय तो हिमांशु श्रीवास्तव को तेनसिंग की मान-प्रतिष्ठा से हमें कोई रोक नहीं सकता।

कुशल कथाकार को पात्रों की भाषा में बोलना पड़ता है और पात्रों के के परिवेश में ही हँसना-रोना पड़ना है। गोदान के राय साहब और मालती के परिवेश और आचार-व्यवहार में होरी, धनिया, गोबर और झुनिया को नहीं फिट किया जा सकता। इसी प्रकार महादेवा गाँव के खलीफा, ग्रामीण परिवेश में सदा रही सविता और सरयुशरण वकील तथा सासाराम के मुख्तार साहब के परिवेश एवं आचार-व्यवहार को भिन्न साँचों में रखते हुए विद्वान कथाकार ने पात्रों की स्वाभाविकता की पूर्ण इच्छा की है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि "सिंदूर का जख्म" हिमांशु श्रीवास्तव की आज से 40 वर्ष पूर्व रचित ऐसी कथाकृति है जिसमें "होनहार बिरवान के होत चिकने पात" की समिधा अन्तर्निहित है।

□

एकलव्य

डॉ० रामकुमार वर्मा प्रणीत 'एकलव्य' एक महाकाव्य है अतः उसकी काव्यता-पक्ष के पूर्व उसकी महत्ता पर विचार आवश्यक है। महाकाव्य शब्द में महत् शब्द एक शास्त्रीय पद है और उसका सामान्य अर्थ बृहत्व मात्र नहीं है। महाकाव्य शब्द एक विशिष्ट प्रकार के काव्य प्रबन्ध को कहते हैं। यद्यपि इसमें आकार का बृहत्व भी अनुस्यूत है किन्तु वह उसकी इयत्ता नहीं है। प्रायः इसका अनुवाद अंग्रेजी के 'एपिक' से किया जाता है एवं हिन्दी में महाकाव्य की धारणा स्पष्ट करने के लिए जहाँ संस्कृत काव्यशास्त्रियों की महाकाव्य सम्बन्धी धारणाओं का क्रमिक रूप प्रस्तुत किया जाता है वहीं पाश्चात्य साहित्य समीक्षकों की 'एपिक' सम्बन्धी धारणाओं का विहंगावलोकन किया जाता है। यह प्रवृत्ति सूक्ष्म आलोचना की दृष्टि से भले ही समीचीन हो, कलात्मक मूल्यांकन में इससे बड़ा व्यवधान पड़ता है। संस्कृत एवं अंग्रेजी दोनों में (और इस रूप में प्रायः सब कहीं) लक्ष्य ग्रन्थों के आधार पर ही लक्षण ग्रन्थों का निर्माण हुआ है, अतः हिन्दी में लक्ष्य महाकाव्यों के आधार पर स्वतन्त्र रूप से महाकाव्य का लक्षण निर्धारण आवश्यक है। पुष्पक विमान कितना ही भव्य क्यों न रहा हो उसके लक्षण से जेट विमान का मूल्यांकन मात्र बुद्धि का व्यायाम होगा जो भावप्रवण साहित्यिक क्षेत्र में केवल अर्थशून्य ही नहीं उपहासास्पद भी होगा। यद्यपि हिन्दी महाकाव्य परम्परा पर दो एक प्रबन्ध प्रकाशित हुए हैं पर उनमें केवल हिन्दी के वर्तमान महाकाव्यों के अध्ययन पर आधारित लक्षण निर्धारित करने की चेष्टा सम्भवतः नहीं की गई है। इस निबन्ध मे इसके लिए पर्याप्त अवकाश और औचित्य नहीं है।

अस्तु 'एकलव्य' महाकाव्य है, प्रकाशक (पुस्तक कवर का फ्लैप) और लेखक (आमुक पृ० ६) ने उसे यही माना है। अनेक आलोचकों ने भी उसे इसी रूप में मान्यता दी है। फ्लैप पर उल्लिखित है कि 'संस्कृत-साहित्य शास्त्र के नियमों उप-नियमों की कसौटी पर भले ही 'एकलव्य' खरा न उतरे 'क्योंकि एकलव्य का नायक दिव्य अवतारी पुरुष या राजा न होकर हीन दृष्टि से देखे जाने वाले एक उपेक्षित वर्ग का युवक, है पर वर्त्तमान को इससे संदेश मिलेगा, इसमें सन्देह नहीं।'

लगभग यही बात उपयुक्त आमुख मे इस रूप मे कही गयी है -एकलव्य ने जिस आचरण का परिचय दिया है, वह किसी उच्चकुल के व्यक्ति के आचरण के लिए भी आदर्श है। वह 'अनार्य' नहीं, आर्य है, क्योंकि उसमें शील का प्राधान्य है। यही उसमें महाकाव्य के नायक बनने की क्षमता है, भले ही वह 'सुर' अथवा 'सद्वंश' में उत्पन्न क्षत्रिय नहीं।'

इस सम्बन्ध में यह जानना महत्त्वपूर्ण होगा कि संस्कृत काव्यशास्त्र के सिद्धांतों के अनुसार 'एकलव्य' को महाकाव्य मानने में कोई आपत्ति है या नहीं। उसके किसी नियम उपनियम के अनुसार खरे उतरने की सम्भावना है या नहीं। संस्कृत के मनीषी कभी लकीर के फकीर नहीं रहे। महाकाव्य का अनिवार्य लक्षण नायक सम्बन्धी है। अन्यत्र सर्वत्र विकल्प है। विश्वनाथ ने अन्त में 'यथायोग्यम्' (जैसा ठीक हो) कहकर इसी का प्रतिपादन किया है। दण्डी ने भी 'यत्र पात्तेषु सम्पत्ति-राराधयति तद्विदः' कहकर पाठक की सम्मति को ही मूल मानक ठहराया है। संस्कृत में अनेक नायकों की भी स्वीकृति है एवं राजतरंगिणी में अनेक कुलहीन नायक उपलब्ध हैं। नायक का राजा होना भी अनिवार्य नहीं है; उसे केवल धीरोदात्त गुणान्वित होना चाहिए। 'एकलव्य' के नायक में यह गुण है।

अन्य सभी अनिवार्य तत्त्व जैसे सर्गों की संख्या आठ से अधिक होना, शृंगार-वीर शान्त का अंगी होना, नमस्क्रियादि से प्रारम्भ होना, धर्मार्थकाममोक्षान्यतम फल होना, सन्ध्या प्रभात ऋतुएँ, नाना रस आदि का यथायोग संनिवेश, नायकादि के नाम पर ग्रन्थ नाम आदि इसमें पूर्ण रूप से उपस्थित हैं। उदात्तचरित, घटना आदि तत्त्व भी अत्यन्त उभरकर सामने आये हैं। हिन्दी महाकाव्यों की अत्यन्त उल्लेखनीय प्रवृत्ति अर्थात् अतीत के पृष्ठों द्वारा वर्त्तमान का सन्देशात्मक समन्वय प्रतिपद मुखर है। कामायनी से लेकर उर्वशी तक यही केन्द्रीय महत्ता इतिहास-बोध के आवरण में युगबोध-हिन्दी महाकाव्य का प्राण है।

निम्नलिखित पंक्तियां दृष्टव्य हैं :

> शक्ति-हीन होने की अपेक्षा प्राण-हीनता
> श्लाघ्य है, तुम्हारी मातृभूमि पावे तुमसे
> शब्द-वीरता न, किन्तु शब्द-वेध-वीरता

—पृ० 19-2

× × × ×

सत्य यह जानूँगा कि मित्र नप होने से
मित्रता का केंचुल उतारता है सर्प-सा ॥ —पृ० 51

× × × ×

शिक्षा की त्रिवेणी का
पवित्र तीर्थराज तो
सृष्टि में समस्त
मानवों की कर्मभूमि है।
प्रतिबन्ध कैसा ?
किन्तु यहाँ इस पुर में—
शासित हूँ सर्वदा
कठोर राजनीति का
वज्र तर्जनी से मैं !
हा ! कितना विवश हूँ !
हो गया हूँ पुष्प मुरझाया सा
कूष्माण्ड का। —पृ० 232

क्या यह पंक्तियाँ महाभारत कालीन वातावरण एवं परिस्थितियों का काल्पनिक चित्र हैं ? क्या इसमें वर्त्तमान देश की सामान्य साम्यवाद कृत वर्ग त्रिद्वेष, शिक्षण-संस्थाओं की गर्हणीय स्थिति पर कलात्मक आक्रोश व्यक्त नहीं हो रहा है ? लेखक ने स्वयं स्वीकार किया है।

मेरी अनुभूति रंगहीन
पुष्प-जैसी है,
किन्तु वह खिलती है
मेरे भाव-वृन्त में।
कल्पना-पराग के
भले ही कण थोड़े हों,
किन्तु उनका है योग
सत्य-मधु-बिन्दु में। —पृ० 275

वस्तुतः एकलव्य मात्र एक अपदेश है जिसके आश्रय पर एक युगचेतक काव्य का विशाल व्यूह रचा गया है। उसमें कल्पना कम सत्यानुभूति अधिक है। महाभारत का एकलव्य भले ही महाकाव्य का नायक बनने की योग्यता से रहित हो पर 'एकलव्य' का नायक तो एक उदात्त चरित का प्रतीक जाति भेद से ऊपर है। 'एकलव्य' एक उत्कृष्ट महाकाव्य है। हाँ इसमें नाटकीयता की बहुलता है। महाकाव्य की वर्णनात्मक शैली की अपेक्षा नाटकीय शैली, विशेष रूप से स्वगत कथनों का प्राचुर्य इसकी विशेषता है। भारवि के समान वर्मा जी हिन्दी महाकाव्यों में एक नया मार्ग जोड़ने का श्रेय प्राप्त करते हैं—उनसे कहा जा सकता है :

अपने से 'स्वगत-कथन'
अच्छे रूप में,
तुम कर लेते हो,
सफल नाट्य-शिल्पी हो। —पृ० 236

हिन्दी महाकाव्यों में यह प्रवृत्ति आगे बढ़ी है। एकलव्य एक नाट्य महाकाव्य है।

काव्यत्व की परीक्षा में कथ्य एवं शिल्प इन दो पक्षों का समावेश किया जाता है। शिल्प पक्ष में भाषा, छन्द, अलंकार, बिम्ब, प्रतीक, वर्णन, चरित्रचित्रण आदि की विवेचना की जाती है।

'एकलव्य' की भाषा संस्कृतनिष्ठ खड़ी बोली है। कवि का भाषा पर पूर्ण अधिकार है। व्याकरणगत अशुद्धियों का तो प्रश्न ही नहीं किन्तु नाटकीयता को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए अनेकत्र अधूरे वाक्य प्रयुक्त किये गये हैं। कहीं-कहीं पर संस्कृत की समासवृत्ति का ठेठ देशज शब्दों के साथ प्रयोग हुआ है परन्तु भावबोध में कहीं भी कठिनाई नहीं होती। कहीं-कहीं ब्रजभाषा के शब्दों का प्रयोग (लहैंगे, पै अरु) भी ध्यान आकृष्ट करता है।

छन्द मुक्तामुक्त है, बहुधा कवित्त या घनाक्षरी की छाया पर है और तुकान्त एवं अतुकान्त दोनों है। हिन्दी छन्द पर उर्दू की वजनबन्दी, गीत की लय, अंग्रेजी की मीटर पद्धति—इन सबका इतना अधिक प्रभाव है कि बिना विशद विवेचना एवं विवाद के छन्दों का निर्देश करना कठिन है पर इतना कहा जा सकता है कि इस महाकाव्य में छन्दोनियम की अपेक्षा प्रवाहमयता पर अधिक ध्यान दिया गया , लय भंग के स्थलों का नितान्त अभाव नहीं है। यद्यपि कहीं पर भी तुकों का भाव या अभाव सामान्य पाठक को आकृष्ट नहीं करता है पर अनेकत्र लगातार

कई छन्दों में तुक निभाया गया है। तुक को त्यागने एवं पुनर्ग्रहण का कोई नियम परिलक्षित नहीं होता है। ममता नामक सर्ग में गीति का प्रयोग सम्भवतः साकेत से प्रभावित है पर उसमें यशोधरा का प्रभाव भी है—

यदि तुमको जाना था वन में।
तो तुम कह देते पहले ही,
रखे क्यों रहे मन में?

अलंकारों का अन्वेषण कोई महत्त्वपूर्ण तत्त्व नहीं है क्योंकि सभी कवि सर्व-प्रसिद्ध उपमा, उत्प्रेक्षा रूपक, श्लेष आदि का अनिवार्यतः प्रयोग करते हैं। अर्थान्त-रन्यास आदि भी स्वाभाविक रूप से आ ही जाते हैं। वर्मा जी इस महाकाव्य मे किसी या किन्हीं अलंकारों के प्रति विशेष लगाव रखते प्रतीत नहीं होते। हाँ उनके बिम्ब एवं प्रतीक अवश्य एक विशेषता लिये हुए हैं। उनके अप्रस्तुतों में संस्कृत व्याकरण के अनेक संज्ञा, विधि एवं परिभाषाओं का सन्निवेश है। भाषा वैज्ञानिक नियम भी उनके अप्रस्तुत कोष के रत्न हैं। उदाहरणार्थ :

नाना भाँति के विचित्र लक्ष्य सु-स्थापित थे,
जिनका अदर्शन शर से अभिप्रेत था,
मानो प्रातिपदिकों और प्रत्ययों के मध्य
लोप होने वाले सभी इत् संज्ञक वर्ण हों।

—पृ० 102

काव्यशास्त्र से अनेक बिम्ब ग्रहण किये गये हैं :

सम्भवतः हिन्दी में इस तरह का व्यापक प्रयोग अन्यत्र नहीं किया गया है। वर्मा जी ने अपनी रचनाओं को भी एक स्थान पर मुद्रालंकार के माध्यम से संजो दिया है :

शिशिर के पीले पत्र सूखने के पूर्व हों,
देना चाहते हैं 'रूप-रंग' 'ऋतुराज' को
एक 'ध्रुवतारिका' में 'कौमुदी महोत्सव'
चाहती 'रजत-रश्मि' देखो इस साज को !
मेरा मित्र कौन है,
मैं क्या कहूँ नागदन्त !
साधन ही जीवन में
मेरी 'चारुमित्रा' है !

रिमझिम-बिन्दु में
न 'इन्द्रधनु' देखना,
रक्त-बिन्दु में ही
सप्तकिरण विचित्रा है!
....
मेरी 'चन्द्रकिरण' में
कहाँ 'आकाश-गंगा'
सांस में समाई
शक्ति विद्युत-तड़प की!
—पृ० 137-138

जिस प्रकार भारवि ने अपने नव मार्गानुसारी महाकाव्य में सूक्तियों के द्वारा अर्थगौरव प्रदान किया है उसी प्रकार हिन्दी में नये प्रकार का महाकाव्य लिखने वाले डॉ० रामकुमार वर्मा जी ने भी अत्यन्त उत्कृष्ट, उदात्त एवं भावपेसल सूक्तियों का समावेश करके काव्य को महनीय बनाया है। उक्ति शिल्प का उत्कर्ष दृष्टव्य है:

सुख का विश्वास जिसे
जीवन में होता है,
जान लो कि वह सुख
से ही छला जाता है। —पृ० 139

साधना तभी तो सिद्धि की है अधिकारिणी
जब वह नित्य के प्रदर्शन से दूर हो। —पृ० 280

अन्त में कवि की बहुज्ञता पर कुछ कहना अनिवार्य है क्योंकि प्रतिभा जन्मजात होती है। पर निपुणता या शिल्पत्व संचित करना पड़ता है। काव्यत्व का बीज प्रतिभा है जो अनुभूति से जागती है पर उसे स्वरूप, वह स्वरूप जो अभिजन ग्राह्य हो, निरीक्षण अध्ययन से प्राप्त होता है। कवि को धनुर्वेद का इतना अधिक ज्ञान है कि वह कहीं-कहीं सामान्य पाठक को दुरूह लगने लगता है—यथा:

आकर्षण, विकर्षण या कि पर्याकर्षण,
अनुकर्षण या मुक्त मंडलीकरण हो।

पूरण हो, स्थारण हो या कि आसन्नपात,
दूरपात, पृष्ठपात द्वारा लक्ष्यभेद्य है। —पृ॰ 208

× × ×

आलीढ़, प्रत्यालीढ़, हो विशाख समपाद
असम, गरुड़-क्रम या दर्दुर-क्रम हो।
पद्मासन हो कि कोई अन्य ही स्थानक हो,
एकलव्य क्रम से कुशल हुआ सब में।

—पृ॰ 210

इसके अतिरिक्त अनेक पुराणों के आख्यान लोक-व्यवहार, शास्त्र से गृहीत प्रतीकों से वर्मा जी का अद्वितीय पाण्डित्य सिद्ध होता है। प्रकृति-चित्रण में तो वे दक्ष हैं ही मानव मन का चित्रण भी ममता सर्ग में मार्मिक हुआ है।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि वर्मा जी एक नाट्यशिल्पी ही नहीं उत्कृष्ट कोटि के काव्यशिल्पी भी हैं। उनका 'एकलव्य' शिल्प की दृष्टि से श्रेष्ठ रचना है।

●

गंगा

'गंगा'[1] डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय की सद्यः प्रकाशित व्यंग्य काव्यकृति है। इस कृति में केवल एक ही दीर्घाकारी कविता गंगा समाहित है। इसे यदि किञ्चित् परिवर्तन के साथ परिच्छेदों में विभाजित कर दिया जाये तो खंडकाव्य की अर्हता प्राप्त कर लेगी।

कविता भावोन्मेषी क्षणों की अभिव्यक्ति-प्रयास का प्रतिफलन है। भावोद्रेकी सत्वों को संप्रेषणीयीय बनाने के लिए कवि नामधारी संप्रेषक को यदा-कदा 'विदग्ध भणिति' की पद्धति अपनानी पड़ती है। वक्रोक्ति की अन्तर्व्याप्ति कविता को धारदार बनाने के साथ-साथ अपने क्रोड़ में कवि के आक्रोश और अनुराग को भी परोक्षतः प्रतिध्वनित करती है। यही परोक्ष अन्तर्ध्वनि कविता की चमत्कारिक संभूति है। काव्यकार और पाठक के बीच तादात्म्य-स्थापन के लिए इस विधा को जनमानस ने शदियों से स्वीकार कर रखा है। आज के युग में सहजोक्ति की अपेक्षा वक्रोक्ति को अधिक आदर मिलने का कारण जनभावना की स्वीकृति ही हैं। 'नई कविता' का जन्म ही इस जनभाव की साकांक्ष प्रस्वीकृति का पुरश्चरण है।

डॉ० उपाध्याय की आलोच्य कविता 'गंगा' में युग के व्यभिचार का अतिचार घोषित है। 'स्व' को अर्थवान बनाने की कुचेष्टा में लोकोन्मुखी सद्वृतियों का गला घोंटा जा रहा है। शिव की जटा से निःसृत गंगा को शिवम् से विरहित करने का सघन अभियान चरमोत्कर्ष पर है। गंगा की अस्मत लूटने वालों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। छल-छद्म की भाषा से अपरिचित निरीह एवं निर्दोष जनता भी इस दुष्चक्रजन्य दुष्परिणामों का कर्त्ता और भोक्ता बनकर अपना भविष्य अपने हाथों बिगाड़ रही है। कवि के समान अनेक मूक द्रष्टा दुरभिसंधि के भावी प्रत्यागमों का आकलन-विकलन करते हुए मन ही मन अनुतप्त होते रहते है और माँ से परिवाद करते हैं।

> माता, तू अपने मतिहीन
> ममता के पात्रों से कहती क्यों नहीं
> कि भ्राताओं! पेशेवर पिशाचों से बचो
> देखते नहीं, जन की ओर जिन्न आ रहा है। गंगा—पृ० 17

गंगा भारतीय संस्कृति की त्रिपथगा है। इसमें मानवीय चरित्र की पानवता,

---

[1] पुस्तक का नाम—गंगा, कवि—विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, पृष्ठ—60, मूल्य—चालीस रुपये मात्र, प्रकाशक—वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली

लोक कल्याण की शीतलता और दुष्कर्म-प्रक्षालन की शुचिता है। कवि गंगा के इस वैशिष्टय को कितनी विदग्धता और भाव प्रवणता से रेखांकित करता है, इसका उदाहरण देखें—

गंगा सर्वसाधारण के संस्कारों में
बहती हुई रामायण है
भारतवर्ष के हृदय प्राणों में
साक्षी आत्मा सी रस-बस रही है गंगा
देश के विशद वक्ष पर
यज्ञोपवीत सी सजी है
वह पाप पिशाच मोचिनी
चैतन्य की ऊर्ध्वगतिकारिणी
ब्रह्माण्ड प्रक्षालिनी गंगा। गंगा—पृ० 23

गंगा के आराधकों और हितानुभोगियों की दुर्गति गगा की शुचिता और परोपकारिता का हनन किस क्रूरता और अधमता से कर रही है, यशस्य कवि के ही शब्दों में देखें—

अब मनुष्य का दानवीकरण सहा नहीं जाता
......वह सुरसरिता के मौन को देखकर
अपना भाल पीटता है
छाती कूटता है
नोचता है अपना मुख
और फिर लँगड़े कूकर सा
काँय-काँय करता हुआ
चाम के कारखानों की ओर चल देता है
जहाँ से चमरौंधा नीर ठाठ के साथ
पतितपावनी के मुख की ओर जा रहा है।

गंगा—पृ० 27

कर्मस्थल कानपुर को केन्द्रित कर कवि मानवीय वृत्तियों एवं अनाचारों को

अपावृत करते हुए आज के युग पर करारा व्यंग्य करता है तथा मुखौटा पहने लोगों को बेनकाब कर देता है—

"'कभी बन्दरमुख अंग्रेजों का कैम्प था यहाँ,
भरी जेबों और खर दिमाग फौजियों ने
इस कैम्पपुर की अस्मत को रोंदा।
सिखाया उद्योग धंधों में नम्बर दो की कारगुजारियाँ
प्रामाणिकता अब सिर्फ चमकीले पैकटों में रह गई है।

× × × ×

जहाँ ममता नहीं, मूत्र है, मक्खियाँ
मच्छर और मत्सर है,
रक्त पोंछते हुए वह पानी-पानी चिल्लाता है।

(गंगा पृ०—24)

'धर्म के नाम पर अहर्निश हो रहे अत्याचारों' और गंगास्नान की आड़ में हो रहे दुकर्मों का पर्दाफाश करते हुए कवि गंगा को विपन्नों का भ्रम और सम्पन्नों का रक्षक मानता है—

गंगे, तू जानती नहीं, तू धोखा है, विपन्नों के लिए
और धनकुबेर, तुझे पश्चाताप के मुहूर्त में
आध्यात्मिक लिपिस्टिक समझते हैं
और ढस्से से इस्तेमाल करते हैं कंठी-तिलक की तरह।

(गंगा—पृ० 56)

कानपुर को कवि भारतीय नगरों की प्रवृत्तियों का प्रतिनिधि मानते हुए उसमें व्याप्त कुरीतियों एवं अन्याय के भार से दबे निरीह जनसमूह की आर्तवाणी को स्वर देने के साथ ही धार्मिक आडम्बरों के खोखलेपन पर भी कटाक्ष करता है—

मजहब के नशे में कौन मानते
व्यक्ति को विजू का बनाते
गरम अंटी मगर टँटी मतान्ध महिदेव
पिंडहारी कठमुल्ले, हत्यारे हाजी,
ढलते हैं सजे-धजे कँटे-छँटे बँगले वासी के काले जादू से।

(गंगा—पृ० 46)

स्पष्ट है 'गंगा' में प्रतीकात्मक खण्डकाव्य की सभी विशेषताएँ विद्यमान हैं। यह

लम्बी कविता मानवीय संवेदनाओं और संघर्षों के ताने-बाने से बुन ऐसा यथार्थ तथ्य रूपक है कि हम सब इसमें अपनी-अपनी भूमिका विद्रूपगति से निभाते हुए मानवता को रसातल की ओर ले जा रहे हैं। इसलिए कवि माँ गंगा से निवेदन करता है—

> माँ, अब तुम जन और महाजन के मध्य से हट जाओ
> अब निर्णय का क्षण निकट है
> भेजो अपने आत्मज भीष्म पितामह को
> कि वह इस बार जनधर्म का पक्ष लें
> यह धन और धरती के बँटवारे
> का युद्धपर्व है जीवन के कुरुक्षेत्र में। (गंगा—पृ॰ 56)

कविता की विदग्धवाणी की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त भाषा की पैनी धार और प्रचलित, व्यवहृत चोखे-चुभते पद इस प्रकार धक्का-मुक्की, कर रहे हैं कि कौन आगे हैं, कौन पीछे पता ही नहीं चलता।

भाव, कथ्य, अभिव्यक्ति सभी दृष्टियों से पुस्तक पठनीय और संग्रहणीय है।

●

आधुनिक हिन्दी साहित्य : गुजरात

हिन्दी साहित्य परिषद् अहमदाबाद द्वारा प्रकाशित "आधुनिक हिन्दी साहित्य गुजरात" गुजरातवासियों की हिन्दी देन का एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है। गुजरात विश्वविद्यालय में भाषा-साहित्य भवन के तत्कालीन निदेशक एवं हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ० अम्बाशंकर नागर ने अपने साहित्यानुरागियों श्रेष्ठियों के सहयोग से हिन्दी भाषा एवं साहित्य के प्रचार-प्रसार हेतु इस संस्था की स्थापना की थी। अपने १० वर्ष की अल्पकालावधि में इस संस्था ने लगभग तीन दर्जन से अधिक पुस्तकों का प्रकाशन किया है तथा "भाषा-सेतु" नामक त्रैमासिक हिन्दी पत्रिका को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठित किया है। पाँच सौ अधिक आजीवन सदस्यता वाली इस संस्था ने पिछले १२ वर्षों से गुजरात की साहित्यिक एवं सांस्कृतिक चेतना को जगाकर राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार प्रसार में महत्त्वपूर्ण अंशदान किया है। दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार, सभा, चेन्नई एवं वर्धा की पंक्ति में सगर्व खड़ी यह संस्था आज भी हिन्दी भाषा एवं साहित्य के चातुर्दिक प्रयास में कार्यरत है।

चार खण्डों में विभक्त यह ग्रन्थ हिन्दी साहित्य के मर्मज्ञ समालोचक एवं सुख्यात कवि गुजरात विश्वविद्यालय के पूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष की षष्ठी पूर्ति के अवसर पर उनके अभिनन्दन पुष्पांजलि के रूप में प्रकाशित है किन्तु पुस्तक के तीन खण्ड (द्वितीय, तृतीय, और चतुर्थ) गुजरात की हिन्दी सेवा और हिन्दी सेवियों के अवदानों से अलंकृत है। पुस्तक के चार खण्ड इस प्रकार है—प्रथम खण्ड—समर्पण और साहित्यार्चन (डॉ० रामकुमार गुप्त पर केन्द्रित), द्वितीय खण्ड—साहित्य और साहित्यकार, तृतीय खण्ड—हिन्दी सेवी संस्थाएँ और चतुर्थ खण्ड—शोध-विवरण।

प्रथम खण्ड में डॉ० रामकुमार गुप्त के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर मूर्द्धन्य विद्वानों के आलेख, विचार एवं शुभाशंसाएँ संकलित हैं। द्वितीय खण्ड में काव्य, निबंध, कला एवं संस्कृति, शोध, राजभाषा हिन्दी के विकास एवं गुजरात के श्रेष्ठियों की हिन्दी सेवा आदि पर कुल २१ गवेषणात्मक आलेख अन्तर्विष्ट हैं। गुजरात की हिन्दी-सेवी संस्थाओं के क्रियाकलापों एवं उनकी उपलब्धियों से संबंधित शीर्षस्थ विद्वानों के ९ आलेख तृतीय खण्ड में प्रस्तुत हैं। चतुर्थ खण्ड में गुजरात के विश्वविद्यालयों में पी-एच० डी० के लिए स्वीकृति शोध प्रबन्ध, शोध-विषयों की सूची समाहित है।

हिन्दी साहित्य के गौरव पुरुष और गुजरात हिन्दी-ससार के वरेण्य विद्वान् डॉ० अम्बाशंकर नागर के संरक्षक और आचार्य रघुनाथ भट्ट के संपादकत्व में प्रस्तुत यह ग्रंथ हिन्दी भाषा और साहित्य के विद्वानों और जिज्ञासुओं सुधि पाठकों के लिए अमूल्य है।

यह ग्रंथ गुजरात में हिन्दी की वर्तमान अवस्था का सर्वांगपूर्ण चित्र उपस्थित करता है। इसमें गुजरात के आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रायः सभी प्रमुख प्रवृत्तियों का सविस्तर परिचय दिया गया है यथा—भारतीय कला एवं संस्कृति की केन्द्र, गुजरात, नवें दशक की गुजराती कविता, गुजरात की साठोत्तरी हिन्दी कविता, गुजरात के समकालीन हिन्दी कविता में व्यंग्य, गुजरात की समकालीन हिन्दी गजल, गुजरात में हिन्दी का आधुनिक हाइकु साहित्य, गुजरात का आधुनिक उपन्यास साहित्य, गुजरात के हिन्दी कहानीकार, गुजरात का हिन्दी निबंध साहित्य, गुजरात में हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ, राजभाषा हिन्दी : विकास तथा कार्यान्वयन, गुजरात के श्रेष्ठियों की हिन्दी सेवा कच्छ के आधुनिक सिन्धी कवियो की हिन्दी कविता आदि।

स्वतंत्रता-संघर्ष के साथ-साथ राष्ट्रभाषा हिन्दी के उन्नयन विकास में भी गुजरात का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। गुजरात विद्यापीठ, गुजरात प्रान्तीय राष्ट्रभाषा प्रचार समिति सौराष्ट्र हिन्दी प्रचार समिति, साहित्यलोक, हिन्दी साहित्य अकादमी, गुजराती हिन्दी प्राध्यापक परिषद्, हिन्दी साहित्य परिषद् जैसी अनेक हिन्दी सेवी संस्थाएँ हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास कार्यों में पूरी निष्ठा से जुटी हुई हैं। इनका सविस्तर वर्णन ग्रंथ के तृतीय खण्ड में अन्तर्विष्ट है।

गुजरात के विश्वविद्यालयों में पी एच० डी० के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्धों एवं पंजीकृत शोध-विषयों की सूची देकर हिन्दी साहित्य परिषद्, अहमदाबाद (प्रकाशक) ने शोध निर्देशकों एवं अनुसंधित्सुओं के विषय-चयन का मार्ग सुगम करा दिया है।

ग्रंथ में संकलित सभी आलेख अपने विषय के विशेषज्ञों द्वारा लिखे हुए है। वे अधिकारिक तथ्यों से प्रमाण पुष्ट है। इनके अध्ययन से हिन्दी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में शोध करनेवाले विद्वानों एवं हिन्दी साहित्य की प्रवृत्ति से परिचित होने वाले ज्ञान-पिपासुओं को बहुत सहायता मिलेगी, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।

डॉ० अम्बाशंकर नागर के विद्वता पूर्ण आलेख—गुजरात में हिन्दी शोध : एक पुनरीक्षण" में वर्तमान स्वरूप अभाव और अपेक्षाओं का बड़ा ही विशद् विवेचन हुआ है। डॉ० सर्वदमन बोरा ने अपने आलेख "गुजरात में हिन्दी के बढते

कदम" में डॉ० मालती दुबे ने 'गुजरात विद्यापीठ और उसके हिन्दी उन्नायक" निबंध में महात्मा गाँधी, सरदार पटेल, काका कालेलकर, मगन भाई देसाई, मोरारजी देसाई, ठाकोर भाई देसाई, गिरिराज किशोर, प्रो० रामलाल परीख, श्री नानुभाई बरोट, पुरुषोत्तम भाई पटेल, डॉ० अम्बाशंकर नागर और डॉ० कुंज बिहार वार्ष्णेय के महार्घ अवदानों की चर्चा करते हुए दिखाया है कि हिन्दीतर भाषी राज्य होते हुए भी गुजरात हिन्दी के विकास की दिशा में यदि अगुआ नहीं तो पिछलग्गू भी नहीं रहा है।

डॉ० अम्बाशंकर नागर ने सेवानिवृत्ति के समय आयोजित अपने सम्मान-समारोह में कहा था कि "मैं चाहता हूँ कि व्यक्तिगत सम्मान की अपेक्षा गुजरात में हिन्दी के बढ़ते चरण का अहसास हिन्दी जगत को कराया जाए तो उचित होगा।" (पृ० ६७ द्रष्टव्य)। नागर जी की इस सदिच्छा रूपी पौधे को वट-वृक्ष का रूप देने का कार्य किया गुजरात विश्वविद्यालय के तत्कालीन हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ० रामकुमार गुप्त के प्रयास का ही परिणाम है। "डॉ० गुप्त ने बड़े धैर्य से, अनेक विपरीत परिस्थितियों के बीच से गुजरते हुए संस्था को अपने कर्मठ और मजबूत हाथों से सहारा देकर उसे चलना ही नहीं दौड़ना भी सिखा दिया। आज गुजरात के हिन्दी जगत् में इस संस्था ने अपना एक उच्च आसन बना लिया है। संस्था के इस राज्याभिषेक की नींव में डॉ० गुप्त की अनवरत साधना रही है।" (पृ० ६६) संस्था के अध्यक्ष और मंत्री रूप में क्रमशः नागर जी और गुप्त जी ने अपने आपको संस्था के हवाले कर दिया है। ये दोनों साहित्य मनीषी हिन्दी साहित्य के लिए सदा आदरणीय रहेंगे।

ग्रंथ में संकलित आलेखों द्वारा यह स्पष्ट है कि गुजरात की कविताओं, कथा-कहानियों, गीतों, संगीतों एवं संस्कृति में हिन्दी को सम्माननीय स्थान मिला है। पूज्य बापू और स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा शुरू किए गए राष्ट्रभाषा अभियान को गुजरात के हिन्दी सेवियों ने उच्चतर गति प्रदान कर उनके सपनों को साकार करने का अभिनन्दनीय कार्य किया है। डॉ० अम्बाशंकर नागर की पुस्तक "हिन्दी के विकास में गुजरात का योगदान" एतद्-विषयक अमूल्य जानकारियों का भंडार है। हिन्दी जगत सदा उनका ऋणी रहेगा।

पुस्तक का नाम—आधुनिक हिन्दी साहित्य गुजरात
प्रधान संपादक—आचार्य रघुनाथ भट्ट
प्रकाशक —हिन्दी साहित्य परिषद्, अहमदाबाद (गुजरात)
आकार —रॉयल, पृ० ३३२ मूल्य—३००/- रु०

●

बिहार : एक सांस्कृतिक वैभव

प्रस्तुत पुस्तक 'बिहार : एक सांस्कृतिक वैभव साहित्य एवं राजनीति के बीच के सेतु श्री शंकर दयाल सिंह द्वारा सम्पादित । सम्पादकीय के अतिरिक्त इसमें इक्कीस निबन्ध है जो अलग-अलग क्षेत्रों की जानकारी के लिए अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। पुस्तक के प्रारम्भ में 'बिहार को जानिए' शीर्षक के अन्तर्गत गंगा शरण सिंह के बिहार सम्बन्धी उद्‌गार हैं जो बिहार को जानने के क्रम मे महत्त्वपूर्ण भूमिका रखते हैं। सम्पादकीय भी अपने में अत्यन्त अर्थपूर्ण है।

यह पुस्तक न तो इतिहास की है और न यात्रा की; यह इतिहास को कुछ मात्रा में समेटे हुए सांस्कृतिक वैभव तक पहुँचती है। इसमें प्रथम लेख, डॉ० वासुदेव उपाध्याय का—'बिहार का प्राचीन महत्त्व शीर्षक से है तो प्रो० जगन्नाथ प्रसाद मिश्र का 'संस्कृति के क्षेत्र में बिहार का योगदान' इसकी विस्तृत रूपरेखा है। सम्पादक ने अनेक विषयों को समेटने का सफल प्रयास किया है। अध्यात्म भी अछूता नहीं रहा है—जैन धर्म और बिहार, मिथिला की दार्शनिक परम्परा आदि लेख भी पुस्तक की गौरव वृद्धि में सक्षम हैं। स्वयं सम्पादक के लेख-मेगास्थनीज के काल का बिहार, सुप्रसिद्ध चीनी यात्री फाहियान और बिहार, हिन्दी साहित्य और बिहार, विषय वैविध्य का प्रमाण हैं।

यह प्रमाणित है कि भारत के इतिहास और संस्कृति के निर्माण में बिहार का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। मिथिला, मगध, झारखंड, भोजपुर, अंग, वृज्जी सभी क्षेत्रों ने मिलकर इसे उन्नति के शिखर तक पहुँचाया था। राजर्षि जनक, याज्ञवल्क्य, गार्गी आदि से लेकर विद्यापति से होते हुए वर्तमान तक का साहित्य साक्षी है कि अध्यात्म, चिन्तन, कला, साहित्य आदि क्षेत्रों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। भगवान् बुद्ध और महावीर जैसे युगपुरुषों का अवदान भी मानवता के संरक्षण में रेखांकित करने योग्य है।

इन सभी तथ्यों पर विचार प्रस्तुत करने वाली यह पुस्तक पाठक को बिहार के अतीत कला, (चाहे संगीत, मूर्ति, चित्र किसी प्रकार की हो) साहित्य, अध्यात्म आदि पर सोचने को अवश्य बाध्य करती है। इसमें दो उल्लेख्य निबन्ध और हैं—डॉ० ललिता प्रसाद विद्यार्थी का बिहार के आदिवासियों के सांस्कृतिक प्रकार तथा डॉ० पद्म नारायण का बिहार की भाषाएँ और बोलियाँ। दोनों निबन्ध अपने-अपने तथ्यों के लिए प्रमाण है।

कुल मिलाकर बिहार को सभी दृष्टियों से समझने के क्रम में यह पुस्तक ज्ञानकोश का कार्य करती है। इसका संपादन स्तुत्य है।

पुस्तक का नाम : बिहार : एक सांस्कृतिक वैभव

संपादक का नाम : शंकर दयाल सिंह

प्रकाशक : डायमंड पाकेट बुक्स (प्रा०) लि० उ० ओखला इंडस्ट्रियल एरिया फेज-१,

प्रकाशन : नई दिल्ली मूल्य—६५